गांव, स्वशासन और पंचायती संस्थान

मंथन

ŚRUTI

अनुज्ञा बुक्स

गांव, स्वशासन और पंचायती संस्थान

मंथन

अनुज्ञा बुक्स

एवं

SRUTI

Society for Rural Urban & Tribal Initiative

SRUTI
Society for Rural Urban & Tribal Initiative

प्रकाशक एवं लेखक का आधिकारिक आग्रह
पुस्तक के किसी भी अंश के किसी भी रूप में अविरल, विस्तृत एवं व्यावसायिक प्रकाशन-प्रसारण के पूर्व लेखक एवं प्रकाशक को सूचना और उनकी सहमति का दायित्व निर्वाह आवश्यक है। उद्धरणों के रूप में उपयोग के वक्त संदर्भ के रूप में पुस्तक, प्रकाशक और लेखक का नामोल्लेख अपेक्षित।

प्रथम संस्करण : 2016

ISBN 978-93-83962-36-5

प्रकाशक
अनुज्ञा बुक्स
1/10206, वेस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110 032
फोन : 011-22825424, 09350809192
email: anuugyabooks@gmail.com

एवं
श्रुति
क्यू-1, होज़ ख़ास एनक्लेव, नई दिल्ली-110 016
वैब : www.sruti.org.in • ई-मेल : core@sruti.org.in

के संयुक्त तत्वावधान में

मूल्य : 125.00 रुपये

लेखक
मंथन
सामुदायिक विकास भवन के पीछे, ग्वाला बस्ती,
गायत्रीनगर, पो. इन्द्रानगर (टेल्को), जमशेदपुर
पूर्वी सिंहभूम (झारखंड)-831008
email: sampreshyamanthan@gmail.com

आवरण : मुन्ना कुमार

मुद्रक
अर्पित एण्टरप्राइजेज, दिल्ली-32

अंशदान आभार

इस कृति में 'उन सारे शख्सों और स्रोतों' का अंशदान है, जिनसे मेरा किसी भी रूप में वैचारिक जुड़ाव रहा है...

इस कृति की रचना में प्रत्यक्ष और तत्कालीन योगदान है–

- श्रुति के सहयोग का
- मुझे अवसर देने के लिए सत्यम और श्वेता के विश्वास, साहस और धीरज का
- अपनी व्यस्तताओं में भी कम्पोजिंग और सुधार के लिये राजश्री और नीता की मुस्तैद मेहनत का
- लेखन की प्रगति के बारे में अरविन्द की बार-बार पूछताछ का
- मेरी लेटलतीफी, बेतरतीबी की आदत और मौलिकता की आत्मतुष्ट अभिव्यक्ति पर अन्तस की बेधड़क बेफ्रिक छोटी टिप्पणियों का और मुझे आईना दिखाते उसके बेपरवाह मनमौजीपन का भी

•••

अर्पण

यह कृति उन सारे लोगों को ससम्मान और साग्रह पेश है...

- जिनका गाँव के साथ संवेदनशील और विवेकसंगत लगाव है...
- जिनके चिन्तन-मनन में बराबरी-आजादी-अपनापन की भविष्यदृष्टि है और जिनकी भविष्यदृष्टि में गाँव पूरी जीवन्तता से शामिल है...

यह कृति उन सबों को चुनौतीपूर्ण बौद्धिक आमंत्रण के रूप में पेश है...

- जिन्हें किसी भी कारण गाँव नामंजूर है, नापसन्द है...
- जिन्हें गाँव के अन्त का इंतजार है...

दो शब्द

भारत गाँवों में बसता है। यह भारत में लगभग एक शाश्वत सत्य की तरह बोला जाता रहा है। ठीक वैसे ही जैसे खेती मानसून का जुआ है। तमाम मोर्चों पर तरक्की के बावजूद भारत को शहरी या औद्योगिक नहीं कहा जा सकता और न ही खेती एक व्यवस्थित उत्पादन पद्धति के तौर पर विकसित हुई है। खेती और गाँव के बीच नाभि-नाल मरासिम है क्योंकि जब कहा जाता है कि भारत गाँवों में बसता है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि भारत की बड़ी आबादी गाँवों में रहती है और क्यों रहती है क्योंकि खेती करती है।

समाज के गठन में अगर उत्पादन की पद्धति एक बहुत बुनियादी आधार है तो यह माना जा सकता है कि खेती ने मानव सभ्यता के विकास में मनुष्य को उसकी यायावरी परिस्थितियों से मुक्त करते हुए उसे स्थिरता दी और धीरे धीरे आपसी सहमति या संविदा के आधार पर खेती के इर्द-गिर्द एक सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना का निर्माण हुआ। इस तरह जीवन जीने के लिए स्थायी साधन के तौर पर खेती और उससे जुड़ी सामजिक व्यवस्था एक गाँव के रूप में निर्मित हुई। इसके बरक्स जब खेती-उत्पाद व्यापार के इस्तेमाल में आये तब इतिहास में शहरों या नगरों का उभार हुआ।

धीरे धीरे शहर और नगर केन्द्रीय प्रशासनिक व्यवस्था के लिए मुफीद हुए और गाँव उत्पादन का आधार बने रहे। एक तरह से गाँवों की अपनी पहचान, इयत्ता और स्वायत्तता पूरी तरह बनी रही। उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण ने उत्पादन संबंधों और सामजिक संबंधों को प्रभावित किया और गाँव की सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना में तमाम विकृतियाँ पैदा हुईं। जाति-वर्ण व्यवस्था ने साधनों के नियंत्रण को वैधता दी और शोषण की कभी न ख़त्म होने जैसी परम्परा शुरू हुई। सामाजिक संस्थाएं जो गाँव को गाँव बनाए रखने में भूमिका निभाती रही हैं और अभी भी उस मानस का प्रतिनिधित्व करती हैं, उन सभी ने मनुष्य की आजादी को कभी तवज्जो नहीं दी और केवल दुखों को बढ़ाने का काम किया।

आधुनिक बोध और समाज को देखने के वैज्ञानिक व तार्किक नज़रिए ने इन्हीं विकृतियों में फंसे गाँवों को 'शोषण का अभेद्य दुर्ग' कहा।

इससे एक तरफ नगरों और शहरों को स्वत: आधुनिक राज्य के लिए केंद्र में ला दिया और प्रशासनिक व्यवस्थाओं को बनाए रखने की भूमिका इतिहास ने दे दी। गाँव अपने पूरे अर्थों में अप्रासंगिक होते गए। यह आम धारणा बन गयी कि गाँव पिछड़े हैं। हीन हैं और इनमें आधुनिक समाज के हिसाब से कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे राज-काज की व्यवस्था में शामिल किया जाए। और यह आम धारणा गाँवों को शासित होने के लिए पर्याप्त योग्यता में बदल गयी। जैसे आज गाँव के लिए योजनायें बनाना, गांवों को शासित किये जाने की योजनायें बनाना, गाँवों के विकास की चिंता करना, गाँवों को मौलिक सुविधाएं देना जैसे जितने भी प्रयास इस आधुनिक राष्ट्र राज्य में हुए हैं और होते रहते हैं उनमें एक बात उल्लेखनीय रूप

से प्रकट होती है कि गाँव अपने बारे में खुद नहीं सोच सकते हैं और गाँवों के लिए किसी को सोचना है और यह काम राज्य सरकारों से लेकर केंद्र सरकार ने अपने जिम्मे लिया हुआ है। कभी यह बात इतनी प्रखरता से नहीं आ पाई कि इस पूरे राज-काज में गाँवों का योगदान क्या है। और वास्तव में यही वह द्वंद्व है जो गाँवों की स्वायत्तता और उनकी आर्थिक, सांस्कृतिक, पर्यावरणीय, राजनैतिक पहलुओं को पूरी तरह से नकार करके केवल प्रशासनिक इकाइयों में तब्दील करके देखता है।

73वें, 74वें संविधान संशोधन के माध्यम से एक बड़ी पहल गांवों के प्रति हुई और प्रशासनिक व राज-काज में इनके विवेक को कुछ हद तक हालांकि सीमित अर्थों में (राज्य सरकारों के अधीन) तवज्जो दी गयी और राजनैतिक इकाई के रूप में मान्यता देने का प्रयास हुआ। हालांकि यह वही दौर था जब भूमंडलीकरण ने देश की आबादी को उपभोक्ता इकाइयों के रूप में पहचाना और उपभोक्ता की सुविधा के लिहाज़ से बाज़ार को गाँवों तक पहुंचाने की प्रक्रिया में लोगों की भागीदारी को एक आवश्यक पहल के रूप में देखा गया।

आज गाँव इन तमाम ऐतिहासिक प्रक्रियाओं से गुज़रकर एक स्वरूप ले रहे हैं। जितनी भी राजनैतिक जगह इन्हें मिली है, उसका भरपूर उपयोग करने के लिए लालायित ये गाँव एक राजनैतिक इकाई के रूप में अपनी विवेकपूर्ण भागीदारी और हस्तक्षेप का प्रयास करते हुए दिखाई दे रहे हैं। कर रहे हैं। ज़रूर सामजिक संरचनाओं में बदलाव हो रहे हैं, आचरण बदल रहे हैं और एक आर्थिक इकाई के रूप में मान्यता नहीं भी मिलने पर अपनी प्रासंगिकता बनाए हुए हैं। जब जब कृषि-उत्पाद के दाम बढ़ते हैं लोगों को गाँव याद आने लगते हैं।

वह समय देश के लोकतंत्र को पूरी तरह से तार्किक और समृद्ध बनाने का समय होगा जब गाँवों को स्वतन्त्र रूप से समग्रता में देश के राज-काज, आर्थिक, राजनैतिक और बहुत ज़रूरी तौर पर पर्यावरणीय दृष्टि से एक संपन्न इकाई के रूप में देखना शुरू होगा और सामजिक संरचना में बदलाव के लिए गाँव अगर तैयार होते हैं तो यह जो भी राजनैतिक ताकत उन्हें हासिल हुई है उसका एक सार्थक परिणाम होगा।

प्रस्तुत किताब का मंतव्य इस एक पंक्ति में समाहित है जो इसके लेखक-'हर संकल्पित बौद्धिकता के समक्ष रखना चाहते हैं कि-गाँव अपने अपरिहार्य अंत की बाट जोहते मृतप्राय अवशेष हैं या नवसृजन के लिए बेचैन आहत जन निकाय?' इस मार्मिक प्रश्न के माध्यम से उनकी अपेक्षा फिलहाल इतनी ही है कि-'गाँव तार्किक और विवेकशील बहस के केंद्र में आये, गाँव सकारात्मक परिवर्तन और सृजन की ज़मीन बने, गाँव बुनियादी परिवर्तन का सुयोग्य और निर्णायक वाहक बने।'

इस महत्त्वपूर्ण किताब को पूरी तन्मयता और प्रतिबद्धता से लिखने के लिए हम मंथन को शुक्रिया कहते हैं। गाँवों को पूरी समग्रता में विमर्श में लाना उनका भी ध्येय रहा है। उम्मीद है यह किताब केवल गाँव बनाम शहर की सतही बहस में न उलझे बल्कि गाँव के प्रति सकारात्मक नज़रिए से इसकी स्वतन्त्र राजनैतिक इकाई बन सकने की सामर्थ्य की संभावनाओं पर विचार शुरू हो।

इस किताब के लिखे जाने और प्रकाशित होकर आपके पास पहुँचने में हमें पॉल हेम्लेन फाउंडेशन (पीएचएफ) का आर्थिक सहयोग मिला। हम शुक्रगुजार हैं।

— सत्यम और श्वेता

अनुक्रम

उपारम्भ *9*

दृष्टि

1. संवैधानिक विमर्श और निष्कर्ष में गाँव और पंचायती व्यवस्था 15
2. गाँव की मौलिक अस्मिता, गाँव के अस्तित्व की वैधानिकता और गाँव की काल-प्रासंगिकता 41
3. स्वशासन की आभासी समझ और सच्ची समझ 57

परिदृश्य

4. झारखण्ड का पंचायती सफर 77
5. बोलते तथ्य
   कानून बना, नियम बने, चुनाव हुए, फिर भी... 80
6. पंचायती प्रतिनिधियों, अधिकारियों और सरोकारी बौद्धिकों के जाहिर अहसास 100

दृश्यान्तर की दिशा

7. रिक्तियों और विसंगतियों को दूर कर ही
   पंचायती संस्थानों में जान भरी जा सकती है 119
8. गाँव की ताकत जगाने, गाँव की निर्णायकता बनाने की ओर बढ़ने की ग्रामीण पहलकदमियाँ 132
9. उपान्त 148

संदर्भ *160*

उपारम्भ

अपनी ओर से इस अध्ययन एवं लेखन के आरम्भ की कुछ बातें। किन्तु इसे आरम्भ कहना सही नहीं लगता। आरम्भ तो नितान्त नया होता है। किन्तु न तो यह विषय नया है, न इस पर कही-लिखी गयी बातें नयी हैं। न तो समाज के स्तर पर और न ही मेरे निजी स्तर पर। बातें पहले से शुरू हैं, जारी हैं, मेरा हस्तक्षेप एक लम्बे आरम्भ की कहीं बीच की कड़ी है। इस कारण इसे उप-आरम्भ, उत्तर-आरम्भ, एक चल रहे सिलसिले में नये सिरे से कुछ बातें शुरू करने की कोशिश का नाम देना ही संगत होगा।

झारखण्ड के पंचायती राज संस्थान के बारे में लिखने के बारे में श्रुति के साथियों के साथ बातचीत के दरम्यान दिलचस्पी के बावजूद एक हिचक थी। एक तो इस कारण कि समयबद्ध लेखन का मेरा अनुशासन नहीं है। ऐसी हर कोशिश में मैं लेटलतीफ ठहरा हूँ। और हर बार समय से पीछे होने का पछतावा और तनाव भी होता रहा है। अपनी गम्भीरता के प्रति अविश्वास की सम्भावना से आशंकित होता रहा हूँ। दूसरे इस कारण कि मेरी निजी दिलचस्पी ग्राम-सभा और ग्रामशक्ति पर फोकस करने की है और इस लेखन में पूरी तरह ग्राम-सभा पर केन्द्रित होना सही नहीं होता।

तब भी इस काम में मैं लग गया। प्रासंगिक विचार, तथ्य, विश्लेषण एवं निष्कर्ष किस तरह पढ़े-देखे जाएँ, पेश किये जाएँ– इस पर सोच चलती रही। जो बातें बार-बार आती रही हैं, उनका कम से कम दुहराव हो। उन बातों पर जोर हो जो कम जानी-पहचानी हैं, बहुत संक्षिप्त हैं और इस कारण अस्पष्ट सूत्रों में व्यक्त हुई हैं। इस पूरी चिन्तन-यात्रा में जो बुनियादी कड़ियाँ ओझल होती रही हैं या छूटती रही हैं, चिन्तन में आते-आते फिसल जाती रही हैं– उन्हें पकड़ने-सहेजने-लिखने की इच्छा बनी। मन में, चिन्तन में उमड़ी उन बातों पर जोर देकर बोलने का इरादा बना, जो जरूरी होने के बाद भी सामान्य चिन्तनधारा में बेतुकी लगती हैं, जिन पर बहस बन सकती है, और कुछ अच्छी-नयी बातें बन सकती हैं, बढ़ सकती हैं।

पंचायती राज के प्रश्न पर सोचते वक्त पहला प्रश्न यही उमड़ आता है कि

आखिर क्यों संविधान ने पंचायती राज की व्यवस्था नहीं अपनायी। आजादी के आन्दोलन की मुख्य नेतृत्वधारा पंचायती राज, ग्रामस्वराज की प्रवक्ता और प्रतिनिधि दिखती थी। भारतीय अतीत के गिने-चुने गौरवतत्वों में ग्रामों की पंचायती व्यवस्था का भी जिक्र अवश्य रहता था। कारण खोजने में काले या भूरे अंगरेजीयत की नारेबाज आलोचना से काम नहीं चलता। कारणों की, पृष्ठभूमि की, उस वक्त के प्रखर-मुखर राजनैतिक मानस की तथा परिस्थिति के संयोगों-दुर्योगों की निष्पत्ति की गहरी तह तक पहुँचने में मदद नहीं मिलती। इसके लिए संविधान-निर्माताओं के बीच की बहस को यथासम्भव संकेन्द्रित होकर देखने की कोशिश की। जो आजादी के गतिशील माहौल में नहीं हो सका, बाद में सत्ता की जड़ होती संस्कृति और संरचना में उसके जीवन्त होने की उम्मीद बेहद कम थी।

इस बहस से भी और विकास की मौजूदा परिघटनाओं और प्रवृत्तियों के अवलोकन से भी गाँव के बारे में एक सम्यक और यथासम्भव सम्पूर्ण दृष्टि विकसित करने की ओर बढ़ने की जरूरत महसूस हुई। गाँव की दृष्टि न होने पर पंचायत की अवधारणा और संरचना मूलाधारित नहीं हो सकती, वायवीय और औपचारिक ही रह सकती है। गाँव की समझ न होने पर पंचायती राज की संस्थाओं और सम्बन्धित विमर्शों और सुझावों का भी युक्तिसंगत मूल्यांकन नहीं हो सकता, तत्वसंगत विकल्प-निर्माण नहीं हो सकता।

ऐतिहासिक परिदृश्य, पंचायती राज एवं गाँव से सम्बन्धित इतिहासबोध के बहुरूपी आयामों तथा गाँव की बुनियादी अवधारणा के आधार पर खड़े होकर झारखण्ड के पंचायती राज की यात्रा के वेग और ठहराव, उतार और चढ़ाव, झटकों-दुर्घटनाओं तथा कामयाबी के पड़ावों को देखने की कोशिश में लगा। पहले जो कार्य सबसे कठिन लग रहा था, वह पंचायत-केन्द्रित साप्ताहिक ''पंचायतनामा'' के कारण थोड़ा आसान हो गया। अमूमन ऐसी पत्रिकाएँ नहीं निकलतीं, निकलती भी हैं तो कुछ अंक तक ही बढ़ पाती हैं। यह सुयोग ही था कि इसी दौर में यहाँ यह व्यावसायिक और नियमित पत्रिका निकल रही थी। सम्पादकीय कथनों, पंचायती व्यवस्था के प्रति प्रतिबद्ध समकालीन बौद्धिकों और नेतृत्वकर्ताओं की अनुभूतियों, पंचायती राज के प्रतिनिधियों एवं प्रशासनिक अधिकारियों की प्रतिक्रियाओं तथा पंचायती राज संस्थानों से जुड़ी गतिविधियों और घटनाओं के माध्यम से झारखण्ड के पंचायती परिदृश्य को अच्छी तरह समझना सम्भव हुआ।

इस सिलसिले में लोक जागृति केन्द्र, एनसीएएस (नेशनल सेण्टर फॉर एडवोकेसी स्टडीज) के प्राकृतिक संसाधन, ग्राम-सभा और पंचायती राज विषयक प्रशिक्षण-शिविरों एवं संगोष्ठियों में प्रशिक्षक एवं वक्ता-श्रोता के बतौर सहभागिता तथा संघर्ष वाहिनी धारा के ग्राम-सभा आन्दोलन के विमर्शों में ग्रामीण अभिव्यक्तियों से

हासिल जमीनी सच्चाइयों/तथ्यों की स्मृति भी विश्लेषणों और निष्कर्षों को आकार देती रही।

झारखण्ड के जनान्दोलनों में आदिवासी स्वशासन, सामुदायिक स्वशासन, गाँव-गणराज्य जैसे उद्घोष हमेशा से मुखरित रहे हैं। ऐतिहासिक संघर्षों और उनकी उपलब्धियों व विफलताओं के बारे में स्वशासन की कसौटी पर राजनैतिक बोध भी व्यक्त होता रहा है। इस सन्दर्भ में कुछ शासकीय प्रावधानों-विधानों की भरपूर प्रशंसा भी होती रही है। पंचायती चुनाव का समर्थन और विरोध दोनों होता रहा है। स्वशासन के ऐतिहासिक एवं समकालीन बोध तथा स्वशासन के भावी व्यापक स्वप्न या आदर्श को भी तार-तार समझने की कोशिश मुझे आवश्यक लगी। जैसा बोध, जैसा स्वप्न होगा, वैसी ही आकृति हम सृजित कर सकेंगे। अगर इनमें धुंधलापन, अस्पष्टता या अधूरापन होगा तो हम भी धुंधली, अस्पष्ट और अधूरी उपलब्धि ही हासिल कर सकेंगे।

पंचायती राज संस्थानों और ग्राम-सभाओं से जुड़े तथ्य बार-बार यह दुखद सच ही बयान करते हैं कि पंचायती राज संस्थान कुपोषित हैं, अपंग हैं, लगभग निष्प्राण हैं। कुपोषण और अपंगता की असल जड़ तलाशना और उसे पूरी तरह सबल-निरोग बनाने के उपाय करना तो एक मुश्किल और वक्त लेनेवाला कार्य है। मौजूदा हालात में कानूनी रूप से हासिल हकों को भी कैसे लिया जा सकता है, किन कमजोरियों को दूर कर इन संस्थानों में यथासम्भव जान भरी जा सकती है– इसके सम्भव तात्कालिक कार्यवाहियों के सुझाव भी सुझाये गये हैं।

पंचायती संस्थानों का बुनियादी मकसद गाँवों, गाँवों की सामूहिकता, ग्रामीण जीवन को उन्नत और शक्तिमान बनाना होना चाहिए। किन्तु पंचायती संस्थान यह करें ही– यह लाजिमी नहीं। वे मौजूदा शासन-निकायों की तरह गाँव को निचोड़ने-कमजोर करने का काम भी कर सकते हैं। ऐसी ही दिशा पंचायती राज की है भी। गाँव की सामूहिक पहल से ही गाँव की निर्णायकता, गाँव की खुशहाली सुनिश्चित हो सकती है। गाँव और ग्राम-सभा की शक्ति का विस्तार सिर्फ कानूनी अधिकारों पर ही निर्भर नहीं होता। ऐसी बहुत सारी सामाजिक, सांस्कृतिक, अनौपचारिक गतिविधियाँ हो सकती हैं; जिनकी सशक्त राजनीतिक अभिव्यक्तियाँ हो सकती हैं, जो गाँव को और ग्राम-सभा को एक निर्णायक निकाय की हैसियत दिला सकती हैं। ऐसी कई पहलकदमियों को भी चिन्हित करने की कोशिश की गयी है।

आज का पंचायती राज कानून वास्तविक स्थानीय स्वशासन या ग्राम स्वराज की स्थापना नहीं कर सकता। यह तो ज्यादा से ज्यादा सिर्फ शीर्ष संचालित विकास की एक सक्रिय और निर्वाचित एजेंसी की रचना कर सकता है। सही अर्थ में, सच्चे मायने में पंचायती राज, ग्रामस्वराज स्थापित करने के लिए कौन से संवैधानिक-

वैधानिक, प्रशासनिक प्रावधान नितान्त जरूरी होंगे– इसे भी जानने-समझने की कोशिश की गयी है। यह बदलाव, नवनिर्माण की भावी यात्रा की दिशा और प्रेरणा को आत्मसात करने की कोशिश के बतौर की गयी है।

कुछ और भी सार्थक छोटी-छोटी, बिखरी-बिखरी बातें बची रह गयी हैं, जिन्हें एक सुसंगत क्रम में सजाना अभी सम्भव नहीं हो सका है।

●

दृष्टि

संवैधानिक विमर्श और निष्कर्ष में गाँव और पंचायती व्यवस्था

आज अपने देश में, देश के विभिन्न प्रान्तों में पंचायती राज संस्थाओं की जो स्थिति है, उसमें देश के राजनैतिक और संवैधानिक अतीत का एक निश्चित योगदान है।

अतीत के भी दो हिस्से हैं। एक हिस्सा गाँव की राजनैतिक-सामाजिक संस्थाओं की परम्परागत निरन्तरता और बोध से जुड़ा है। दूसरा हिस्सा अंगरेजी प्रभुत्व से मुक्ति के बाद बनाये गये संविधान में ग्राम-पंचायत की संस्थाओं के बारे में दर्ज प्रावधानों से सम्बन्धित है। पहला हिस्सा सांस्कृतिक या चेतनागत है। संवैधानिक प्रावधान संस्थानों को मूर्त और क्रियाशील रूप देने में अपनी भूमिका निभाते हैं।

भारत के गाँवों के अतीत के बारे में एक आम धारणा रही है कि वे स्वयंशासी और लगभग स्वयंपूर्ण रहे। लम्बे समय तक उनकी व्यवस्था स्थिर और अपरिवर्तित रही। बाहरी आघातों, आक्रमणों और परिवर्तनों से वे अधिकांशतः अछूते रहे। अंगरेजों के शासन के पहले तो रहे ही। यह अक्षुण्णता, संरक्षितता कितनी गाँवों की आन्तरिक प्रतिरोध शक्ति के कारण और कितनी शासकों के न्यूनतम हस्तक्षेप के कारण रही है– इस पर कोई निष्कर्ष निकालना कठिन है।

आजाद भारत के संविधान में ग्राम-पंचायत को अनिवार्य, निर्णायक और विस्तृत जगह नहीं मिली। शासन-रचना में गाँव को कोई जगह नहीं मिली। बस एक संक्षिप्त नीतिगत अनुशंसा, दायित्व या वैचारिक निर्देश के सूत्र के रूप में ग्राम-पंचायत संविधान में जगह बना सका। संविधान के प्रारूप में तीखी बहस के बाद यह जोड़ा गया कि राज्य ग्राम-पंचायतों को संगठित करने हेतु कदम उठाएगा तथा उन्हें ऐसी शक्ति एवं प्राधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वशासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने में समर्थ/योग्य बनाने के लिए आवश्यक हों। संविधान के प्रारूप का यह आर्टिकल 31A स्वीकृत संविधान के आर्टिकल 40 के रूप में अस्तित्व में आया, जो राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों के अध्याय में शामिल है।

संविधान के प्रथम या मूल प्रारूप में ग्राम-पंचायत को इतनी जगह भी नहीं दी गयी थी। काफी तीखी और धारदार बहस और हस्तक्षेप के बाद ही इतनी जगह भी मिल सकी। और 73वें संशोधन के पहले तक इतनी ही जगह रही।

संविधान-निर्माण के विमर्श के चरणों की एक संक्षिप्त झलक भी कुछ बातें कहती हैं :

13 दिसम्बर 1946–22 जनवरी 1947 तक लक्ष्य एवं उद्देश्य के प्रस्ताव पर चर्चा हुई।

अगस्त 1947 में संविधान का पहला प्रारूप रखा गया और 29 अगस्त को ड्राफ्ट कंस्टीच्युशन स्क्रूटिनी कमिटी की नियुक्ति हुई।

मई 1948 में संविधान-सलाहकार ने भारत के संविधान में पंचायतों के स्थान पर एक टिप्पणी की।

4 से 9 नवम्बर 1948 तक संविधान के प्रारूप के द्वितीय पाठ पर बहस चली।

22 नवम्बर 1948 को संविधान में अनुच्छेद 40 को शामिल करने की बहस हुई।

17 से 26 नवम्बर 1949 तक संविधान के प्रारूप का तीसरा पठन हुआ और उस पर बहस हुई।

संविधान-सभा के सदस्यों की सामाजिक-भौगौलिक पृष्ठभूमि, बहस और पेश संशोधनों के विषय क्षेत्र, चर्चा पर और लेखन पर लगा कुल समय, संविधान को अन्तिम रूप देने की प्रक्रिया जैसे बहुतेरे बिन्दु हो सकते हैं, जिनसे ग्राम-पंचायत की संवैधानिक वास्तविकता की पृष्ठभूमि को समझने में मदद मिल सकती है। पर यह सम्भवत: अनपेक्षित विस्तार हो, इस कारण संविधान-निर्माण के दौरान व्यक्त विचारों पर ही केन्द्रित हुआ जाए।

फिर भी, प्रथम प्रारूप की प्रस्तुति और उस प्रारूप की जाँच कर एक और पुनरीक्षित प्रारूप पेश करने के लिए बनी कमिटी की कार्यवाही की स्थिति गौरतलब है। स्क्रूटिनी और ड्राफ्टिंग कमिटी के सात सदस्य थे, मुख्य प्रभार डॉ. अम्बेडकर का था। 4 नवम्बर 1948 को इस कमिटी ने संविधान-सभा के समक्ष पुनरीक्षित ड्राफ्ट रखा था। ड्राफ्ट रखे जाने से पहले संविधान-सभा के अध्यक्ष ने पंचायती राज को संविधान में समाविष्ट करने के सन्दर्भ में संवैधानिक सलाहकार से अप्रैल 1948 में सलाह माँगी थी। संवैधानिक सलाहकार ने मई 1948 में अपनी टिप्पणी दे दी थी। 5 नवम्बर 1948 को स्क्रूटिनी और ड्राफ्टिंग कमिटी की ओर से टी.टी कृष्णम्माचारी ने कमिटी की गतिविधियों का विवरण भी दिया था।

कमिटी के बारे में विवरण

इस विवरण में यह कहा गया है कि संविधान का प्रारूप तैयार करने के सन्दर्भ में पर्याप्त/आवश्यक ध्यान नहीं दिया जा सका। संविधान-सभा द्वारा इस कमिटी के

लिए मनोनीत सात सदस्यों में से एक ने इस्तीफा दिया, उनके बदले एक व्यक्ति को रख दिया गया। एक सदस्य का देहान्त हो गया, उनकी जगह किसी को नहीं रखा गया। एक सदस्य देश से बाहर अमेरिका में रहे, एक सरकारी कारोबार में पूरे तौर पर व्यस्त रहते थे, तो एक- दो लोग दिल्ली से काफी दूरी पर रहते थे और सम्भवत: सेहत की कमजोरी के कारण बैठकों में शामिल होने में उन्हें अड़चन आती थी। प्रारूप बनाने का पूरा जिम्मा डॉ. अम्बेडकर पर पड़ गया। अम्बेडकर की मेहनत प्रशंसनीय रही किन्तु कमिटी के रूप में संविधान-प्रारूप पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा सका। श्री गोपालस्वामी आयंगर या श्री के.एम. मुंशी या अन्य व्यक्ति की उपस्थिति होने पर जो विशेष गौर किया जा सकता था, वैसा गौर कुछ पहलुओं पर नहीं किया जा सका।

संवैधानिक सलाहकार की टिप्पणी का सार

मई 1948 में संवैधानिक सलाहकार ने जो टिप्पणी की थी, उसके अनुसार उस समय संविधान के प्रारूप में पंचायती संस्थाओं के समावेश का विचार आसान नहीं था। पंचायती संस्थाओं को संविधान में शामिल करने के लिए अप्रत्यक्ष चुनाव के प्रावधान को शामिल करना आवश्यक होगा। इसके लिए अनुच्छेद 67(5) और 149(1) के निर्णय को बदलना होगा। इस परिवर्तन की व्यावहारिकता के बारे में उन्होंने अपनी अनभिज्ञता जाहिर की थी। और उसके बाद अपनी ओर से यह तथ्य भी रखा था कि दुनिया के सभी देशों में निम्न सदन प्रत्यक्ष मतदान से चुना जाता है, पहले अमेरिका में उच्च सदन अप्रत्यक्ष तरीके से चुना जाता था, 1913 से वह भी प्रत्यक्ष तरीके से चुना जाने लगा है...

अपनी इस टिप्पणी में उन्होंने जानकारी दी थी कि 67(5) और 149(1) में जोड़ने का संशोधन-प्रारूप उन्होंने तैयार कर लिया है। 67(5) के "मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्षत: चुने गये" और 149(1) के "प्रत्यक्ष निर्वाचन से चुने गये" की जगह "मतदाताओं द्वारा स्वयं या मतदाताओं द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों के द्वारा चुने गये..." को जोड़ना होगा। यह 290 में केन्द्र के लिए और 291 में प्रान्त के लिए होगा। इसके आगे उन्होंने कहा कि अगर पंचायत योजना को स्वीकार करना है तो हर प्रान्त, हर भारतीय राज्य और शहरों के लिए विस्तार से खाका बनाना होगा। इसमें काफी समय लगेगा। देर करने से बेहतर होगा कि अभी संविधान पारित कर दिया जाए और इस सन्दर्भ में सहयोगी विधान को ब्योरे के साथ बाद में जोड़ दिया जाए।

गाँव से शुरू होकर केन्द्र तक जानेवाली संरचना की अनुपयुक्तता और जटिलता पर वे इस संक्षिप्त टिप्पणी में भी अन्त तक केन्द्रित रहे। उन्होंने लिखा कि गाँव से

शुरू होकर केन्द्र तक जाने का अर्थ होता है कि प्रान्त के बाद जिला, सबडिविजन, थाना, चौकीदारी यूनियन और गाँव तक कार्यपालिका और न्यायिक तन्त्र के अंगों को बनाया जाए। अभी जिला-स्तर पर विधायिका नहीं है, प्रशासन-मशीनरी है। उन्हें सीमित सन्दर्भ में उप-नियम एवं कानून बनाने का अधिकार है। यदि इन सबका गाँव तक पूरा संवैधानिक स्वरूप गढ़ा जाए तो वह न सिर्फ बहुत विशाल होगा, बल्कि आज से ज्यादा कठोर (अनम्य) होगा। उन्हें प्रांतीय और केन्द्रीय विधायिका के लिए पंचायत और पंचायत जैसी निकायों या इकाइयों को निर्वाचक परिषद (इलेक्टोरल कॉलेज) के रूप में सक्रिय करना सम्भव लगता है। किन्तु पंचायत और पंचायत जैसे निकायों को प्रशासनिक, विधायी, न्यायिक कार्यों के प्रावधानों के साथ समान भूमिका और अधिकार सहित संविधान में शामिल करना उन्हें सम्भव और उचित नहीं लगता।

इस टिप्पणी में विधायिका के सदस्यों के लिए उपयुक्त योग्यता के प्रश्न पर भी सलाहकार ने अपनी राय जाहिर की थी।

प्रारूप और विमर्श के चरणों में पंचायत को जगह

संविधान के प्रारूप पर बहस के हर चरण में ग्राम-पंचायतों के बारे में चर्चा जारी रही। लक्ष्य एवं उद्देश्य के प्रस्ताव पर जो चर्चा चली उसमें स्पष्ट तौर पर ग्राम-पंचायतों का बहुत कम जिक्र आया। जो संकल्प पारित हुआ उसमें गाँवों के बारे में कोई प्रतिबद्धता जाहिर नहीं हुई। प्रतिबद्धता की ऐसी कोई अभिव्यक्ति अप्रासंगिक नहीं होती। सम्प्रभु भारत में शामिल भूभागों को स्वायत्त इकाइयों का दर्जा देने, स्वाधीन भारत के सरकार के अंगों की शक्तियों और प्राधिकारों को लोक से व्युत्पन्न मानने (यानी परम सत्ता जनता में होने); सारे भारतीयों को न्याय, समता और स्वतन्त्रता की गारंटी; अल्पसंख्यकों, पिछड़ों, आदिवासी एवं वंचितों के क्षेत्रों और तबकों के लिए सुरक्षा उपायों; विश्व शान्ति और मानव-समाज के संवर्धन में योगदान की भावना तो सुस्पष्ट तौर पर व्यक्त हुई थी।

पहले प्रारूप में राज्य-संरचना में ग्राम-पंचायतों का कोई जिक्र नहीं था। संवैधानिक सलाहकार की दृष्टि में भी ग्राम-पंचायतों को शामिल करने की उपयुक्तता नहीं थी। दूसरे पुनरीक्षित संवैधानिक प्रारूप में भी ग्राम-पंचायतों को कहीं भी तनिक भी जगह नहीं दी गयी थी। संवैधानिक सलाहकार और स्क्रूटिनी और ड्राफ्टिंग कमिटी के प्रमुख प्रभारी अम्बेडकर के तर्कों में भिन्नता थी, किन्तु निष्कर्ष एक-सा था।

अम्बेडकर ने संविधान के मूल प्रारूप के पक्ष में और ग्राम-पंचायत आधारित शासन-संरचना के घोर विरोध में अपना वक्तव्य रखा। उन्होंने इस तथ्य पर अपनी

खुशी जाहिर की कि मसौदा संविधान ने गाँव को अमान्य किया है, गाँव से छुटकारा पाया है और व्यक्ति को एक इकाई के रूप में अंगीकार किया है।

पुनरीक्षित प्रारूप पर और गाँव-समुदाय की तीखी आलोचना पर बड़ी धारदार बहस चली। पूरे बहस में बहुतेरे वक्तव्यों की अभिव्यक्ति में गांधी के प्रति भक्ति भाव उमड़ता रहा, उनके स्वप्नों और आदर्शों को पूरा करने की दुहाई दी जाती रही। बहस में ग्राम-पंचायत, ग्राम-गणतन्त्र की बहाली के विविधतापूर्ण वैचारिक परिप्रेक्ष्य रखे गये। कई बहुत ही नये और मौलिक सुझाव भी रखे गये जिन पर आज भी गम्भीरता से विचार किया जाना जरूरी लगता है। प्रारूप के पक्ष में भी विविधतापूर्ण विचार रखे गये। इनमें कुछ पारम्परिक ग्राम-व्यवस्था की आलोचना के साथ थे। कुछ ग्राम-पंचायतों की महता, गांधी के आदर्शों की प्रासंगिकता मानने के बावजूद प्रारूप में उन्हें अन्तर्निहित मानते थे और उसमें बड़े परिवर्तन को गैरजरूरी मानते थे।

संविधान के प्रारूप के पक्ष में आयी बातें

अम्बेडकर ने संवैधानिक प्रारूप के आलोचकों को दो श्रेणी में रखा था। पहली श्रेणी में उन लोगों को रखा जिनकी केन्द्रित आलोचना यह थी कि संविधान का कोई हिस्सा प्राचीन भारतीय शासनतन्त्र/शासन-संरचना का प्रतिनिधित्व नहीं करता। इस श्रेणी के लोगों की मान्यता यह थी कि नये संविधान में पश्चिमी सिद्धान्त शामिल करने की जगह शासनतन्त्र का प्राचीन हिन्दू मॉडल (प्रतिमान) रखा जाना चाहिए। दूसरी श्रेणी को ज्यादा अतिवादी मानते हुए अम्बेडकर ने इसमें उन लोगों को रखा जो कोई भी प्रान्तीय या केन्द्रीय सरकार नहीं चाहते थे और सिर्फ अनेकानेक गाँव-सरकार चाहते थे।

अम्बेडकर गाँव-समुदाय के प्रति भारतीय बौद्धिकों के प्रेम को ब्रिटिश विद्वान मेटकाफ के ग्राम-गणतन्त्र पक्षीय प्रशंसामूलक विचार से प्रभावित और प्रेरित मानते हैं। मेटकाफ के ग्राम विषयक निष्कर्ष की आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि जहाँ और कुछ नहीं टिक पाता, बेशक वहाँ ग्राम-समुदाय बचे-टिके रहे हैं किन्तु ग्राम-समुदाय के प्रति गर्व महसूस करने वाले यह ध्यान नहीं देते कि देश के मामले में ग्राम-समुदाय ने कितनी कम भूमिका निभायी है। राजघराने बदलते रहे... बारी-बारी से हिन्दू, पठान, मुगल, मराठा, सिख, अंग्रेज शासक बनते रहे, ग्रामीण समुदाय जस का तस रहा... शत्रु सेना देश से गुजरती है...ग्रामीण समुदाय अपने मवेशी अपने अहाते में जमा करता है और शत्रु को उकसाये बिना गुजर जाने देता है। अपने देश के इतिहास में ग्रामीण समाज ने यही भूमिका निभायी है। हर उथल-पुथल में गाँवों का बचा रहना एक तथ्य हो सकता है, किन्तु मात्र अस्तित्व-रक्षा का कोई मूल्य नहीं। प्रश्न है कि किस बुनियाद पर गाँव बचे रहे; निश्चय ही स्वार्थ के निम्न धरातल पर।

इस विश्लेषण के बाद अम्बेडकर गाँव की तीखी भर्त्सना करते हैं... मैं मानता हूँ कि ग्राम-समुदाय भारत के लिए विनाशकारी रहे हैं। आश्चर्य होता है कि प्रान्तवाद और सामूहिकता की निन्दा करने वाले गाँव के चैम्पियन बनकर आते हैं... गाँव संकीर्णता के गड्ढे हैं, अज्ञानता के खोह हैं।

बालकृष्ण शर्मा (उ.प्र.) ने प्रारूप के समर्थन में कहा कि इस संविधान में देश के सात लाख गाँवों की बात शामिल है। संविधान में ग्राम-पंचायत के बारे में उल्लेख नहीं है। फिर भी, स्थानीय स्वशासन की इकाइयों के विकास की राह में यह संविधान कोई अवरोध नहीं डालता।

[इस विचार की अपनी मौलिक स्थिति है। संविधान के प्रारूप पर सहमति है, स्थानीय स्वशासन के प्रति भी एक सकारात्मक भाव है। प्रारूप और स्थानीय स्वशासन में कोई अन्तर्विरोध इस विचार को नजर नहीं आता।]

मनमोहन दास (प. बंगाल) ने प्रारूपण समिति के चेयरमैन अम्बेडकर के बारे में की गयी आलोचना को गलत माना और प्रारूप को कमिटी का कार्य माना। उनका मानना रहा कि ड्राफ्टिंग कमिटी ने जानबूझकर ग्राम-पंचायत का प्रश्न प्रान्तीय विधायिका पर छोड़ा है। पंचायत के बारे में कानून बनाने का अधिकार प्रान्तीय विधायिका को नहीं है– ऐसा कोई संकेत संविधान नहीं देता। ग्राम-पंचायत व्यवस्था के अतिउत्साही समर्थकों को सचेत करते हुए उन्होंने कहा कि ग्रामीण शिक्षित और राजनीतिक रूप से जागरूक न हों तो ग्राम-पंचायत भला से ज्यादा बुरा करेगी। ग्रमीणों के उपयुक्त रूप से शिक्षित होने के पहले इस व्यवस्था के लागू होने पर स्थानीय प्रभावशाली वर्ग इसकी सारी शक्तियों और विशेषाधिकारों को सोख लेंगे और अपने स्वार्थपूर्ण इरादों के लिए उन्हें इस्तेमाल करेंगे। यह व्यवस्था ग्रामीण जमींदारों, ग्रामीण तालुकदारों, महाजनों और सूदखोरों को अल्प-सुसंस्कृत, अल्प-शिक्षित और गरीब वर्गों को लूटने, शोषण करने की शक्ति देगी।

जसपत राय कपूर (उ.प्र.) ने संविधान के प्रारूप के आलोचकों को अल्पमत में तथा अनुचित करार दिया। उनके अनुसार मौलिक अधिकार और नीति निदेशक सिद्धान्तों के अध्याय आलोचनाओं को तथ्यहीन ठहरा देते हैं। वयस्क-मताधिकार के रूप में जनता के, किसानों और मजदूरों के हाथ में शक्ति देने का जोखिम भरा प्रयोग किया गया है। अनुच्छेद 40 के माध्यम से ग्राम-पंचायत का प्रावधान किये जाने को सन्तोषजनक मानते हुए वे कहते हैं कि इस चरण में इससे ज्यादा कुछ नहीं किया जा सकता। (यह हिस्सा अनुच्छेद 40 में पंचायती प्रावधान जुड़ने के बाद का है, पहली बहस का नहीं।)

सीताराम एस जाजु (मध्य भारत) ने संविधान के कई प्रावधानों को गांधी-दर्शन का हार्दिक अनुपालन माना।

एस.वी. कृष्णमूर्ति राव (मैसूर स्टेट) ने गांधी के सिद्धान्तों को बड़े पैमाने पर संविधान में समाहित माना। उनकी नजर में संविधान का प्रारूप सर्वश्रेष्ठ भारतीय परम्पराओं, अन्य देशों के राजनैतिक और संवैधानिक अनुभवों और गांधी के आदर्शों का सुखद मेल है।

बलवन्त सिंह मेहता (युनाइटेड स्टेट ऑफ राजस्थान) ने कुछ कमियों को जाहिर करते हुए भी संविधान के प्रारूप पर पर सन्तुष्टि और आगामी दिनों में कमियों को पूरा करने की दिशा में सम्भावना का भाव जतलाया। संविधान का प्राचीन और ऐतिहासिक संस्थानों से कोई जुड़ाव न होने की आलोचना करने वालों को उन्होंने याद दिलाया कि हमारे पास अपनी राज्य-व्यवस्था की धुंधली और अपूर्ण छवि है। हम इसे इसके बाहरी रेखांकनों में भी नहीं पहचान सकते। तब भी अपनी संस्कृति के संरक्षण के लिए ऐतिहासिक संस्थानों के कई तत्वों को इसमें शामिल किया गया है।

अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर (मद्रास) की दृष्टि में संविधान वयस्क-मताधिकार के प्रावधान के कारण बधाई-योग्य, स्वागत-योग्य था।

श्रीमती जी. दुर्गाबाई (मद्रास) ने संविधान के प्रारूप के समर्थन में कहा कि हमारा संविधान न समाजवादी है, न साम्यवादी और न ही पंचायती राज का संविधान है। यह लोगों का अपना संविधान है। यह भारतीय जनता को मुक्त और पर्याप्त स्कोप देता है। इस देश को समृद्ध और खुश बनाने के लिए किसी भी विचार के प्रयोग का अवसर देता है।... किसी राजनीतिक दर्शन को पेश करना संविधान-निर्माताओं के लिए गलत होता।

ओ.वी. अलगेसन (मद्रास) संविधान में गाँव को राजनीतिक इकाई के रूप में मान्य नहीं किये जाने की आलोचना को वयस्क-मताधिकार की धारणा पर अविश्वास के रूप में चिन्हित करते हैं...ग्राम-पंचायत पद्धति में ग्रामीण मतदाताओं के द्वारा पंचायत चुनने और पंचायत के सदस्यों के द्वारा प्रान्तीय और केन्द्रीय विधायिकाओं के निर्वाचन में शामिल होने की कल्पना है...वयस्क-मतदान में (हर स्तर के) प्रतिनिधि के चुनाव में (वयस्क मतदाता) के सीधा सहभाग की बात है। यह ग्राम इकाई के जरिये अप्रत्यक्ष चुनाव के मुकाबले ज्यादा प्रगतिशील प्रबन्ध है।

रामचन्द्र गुप्ता (उ.प्र.) ने केन्द्रीकरण को वक्त की जरूरत मानते हुए संविधान के प्रारूप के समर्थन में अपनी बात रखी.... मैं इस आलोचना से सन्तुष्ट नहीं कि कम या ज्यादा विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। सशक्त सरकार वक्त की जरूरत है....हमारा इतिहास इसका साक्ष्य है कि भारत की समस्या एकता, सुदृढ़ीकरण और एकीकरण की है। एकात्मक और उच्च केन्द्रीकृत व्यवस्था इस देश की जरूरत के उपयुक्त है। तब भी यदि भविष्य में अनुभव बताए कि इकाइयों को कुछ अधिक

शक्तियाँ दी जाएँ तो सेक्शन 368 में उपबन्धित संशोधन के माध्यम से इसे करने में कोई दिक्कत नहीं।

सारंगधर दास (ओड़िसा स्टेट) ने प्राचीन हिन्दू राज्य-व्यवस्था को गणतन्त्रीय मानने से इनकार कर दिया.....हमारे निम्न वर्ग, समाज की निचली जातियों; जिन्हें हम हरिजन कहते हैं, उन्हें वंचित-प्रताड़ित अवस्था में रखा गया। अर्थात लोकतन्त्र नहीं था। यदि गणतन्त्र था, तो उच्च वर्गों, ऊँची जातियों का था। इस दृष्टि से देखें तो अस्पृश्यता का अन्त और वयस्क-मतदान का आरम्भ दो सर्वश्रेष्ठ तथ्य हैं, जो संविधान में शामिल किये गये हैं।

प्रारूप की आलोचना - ग्राम-पंचायत व्यवस्था के पक्ष में आये विचार

- इस संविधान में स्थानीय स्वशासन का कुछ भी नहीं है। समग्रता में हमारे जीवन से विकसित होने और सतह से शिखर की ओर विकसित होने की जगह बाहर से आयातित है और ऊपर से नीचे की ओर निर्मित है। जो संविधान इकाइयों पर आधारित नहीं, जिस संविधान के निर्माण में इकाइयों का स्वर नहीं, जिसमें भारत के गाँवों का उल्लेख तक नहीं, जिसको आकार देने में गाँव का हाथ नहीं लगा– आप देश को ऐसा संविधान दे सकते हैं; पर मुझे सन्देह है कि आप इसे लम्बे समय तक रख पाएँगे। हमारा भारतीय गणतन्त्र छोटे स्वायत्त गणतन्त्रों का यूनियन होना चाहिए। ऐसे स्वायत्त गणतन्त्र होते, तब न तो भाषाई प्रान्तों तथा साम्प्रदायिक बहुसंख्यकों या अल्पसंख्यकों और न पिछड़े वर्गों का प्रश्न उठता। आशय यह है कि देश के हजारों गाँवों; भारत के गरीब वर्गों और श्रमिकों का संविधान रचने में कोई हाथ होता तो वह इस प्रारूप से एकदम अलग होता। –दामोदरस्वरूप सेठ (उ.प्र)
- इकाइयों में स्थानीय स्वशासन का प्रावधान करने के लिए आवश्यक संशोधन किया जाए। –शिबनलाल सक्सेना (उ.प्र)
- पेरिस में यूनाइटेड नेशन की जनरल असेम्बली में (हमारे देश के एक वक्ता ने) (हमारे संवैधानिक प्रारूप के बारे में) यह गर्व व्यक्त किया कि भारत ने स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व का सन्देश फ्रांस से लिया है। अमुक बात इंग्लैंड से ली है। अमुक बात अमेरिका से ली है। पर यह नहीं कहा कि हमने अपने गौरव योग्य राजनैतिक और ऐतिहासिक अतीत से, अपने दीर्घ तथा बहुरंगी सफल-असफल इतिहास से क्या लिया है। मेटकाफ के विचारों के कारण नहीं, हमें आजाद करने वाले महानतर मानव राष्ट्रपिता के कारण ग्राम-गणतन्त्रों और ग्रामीण समुदाय में हमारा विश्वास, हमारा ग्राम-प्रेम विकसित हुआ है। अम्बेडकर का रुझान शहरी बुद्धिजीवी का लाक्षणिक रुझान था। गाँव के बारे में

हमारा यही रुझान जारी रहा तो ''ईश्वर हमें बचाए''। यदि हम अपने गाँव और ग्रामीण जन के लिए सहानुभूति, प्रेम और लगाव नहीं रख सकते तो देश को कैसे ऊँचा उठा सकते हैं...(गाँव के बारे में) हमारे इतिहासकारों और विद्वानों ने भी हमें मूल्यवान जानकारियाँ दी हैं... मैं विश्वास करता हूँ कि यदि शान्ति, सुरक्षा, समृद्धि और खुशी की चाह है तो वह दिन दूर नहीं जब पूरी दुनिया विकेन्द्रीकरण पर बढ़ेगी; ग्राम और नगर–गणतन्त्र स्थापित करेगी, इस आधार पर राज्य का निर्माण करेगी, अन्यथा कठिन समय झेलेगी...व्यक्ति राज्य के लिए या राज्य व्यक्ति के लिए? इस परम अन्तर्विरोध को सुलझाना है। मुझे आशा है कि भारत में हम आगे बढ़ेंगे, व्यक्ति राज्य के लिए न हो, बल्कि राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए हो, यह कोशिश करेंगे। –एच. वी कामथ (सी.पी. बेरार)

- वे (अम्बेडकर) संविधान के प्रारूप की आत्मा हैं और उन्होंने इस ड्राफ्ट को ऐसा बनाया है जो पूरी तरह अभारतीय है। अभारतीय से मेरा अर्थ यह है कि यह पूर्णत: पश्चिम के समक्ष आत्मसमर्पण है। –लोकनाथ मिश्रा (ओड़िसा)
- आखिरकार यह कृषकों का देश है। कृषकों और श्रमिकों को सरकार में बड़ा हिस्सा तथा सर्वाधिक प्रभावशाली हिस्सा होना चाहिए। उन्हें यह महसूस होना चाहिए कि वे पृथ्वी के इस वृहत्तम/विशालतम राष्ट्र के सच्चे मालिक हैं। मैं इस विचार के साथ नहीं कि हमारी प्राचीन सभ्यता में भारतीय राष्ट्र के भावी निर्माण हेतु कुछ भी अर्थवान नहीं है। –पी.एस. देशमुख (सी.पी. बेरार)
- जब हम संविधान की रचना कर रहे होते हैं, सिर्फ राजनीतिक संरचना नहीं गढ़ रहे होते, सिर्फ प्रशासनिक मशीनरी नहीं स्थापित कर रहे होते। संविधान राष्ट्र के सामाजिक और आर्थिक भविष्य की मशीनरी है... डॉ.अम्बेडकर के शब्दों में गाँव भारत के विनाश के कारक हैं, अज्ञानता के खोह हैं। अगर ऐसा है भी तो वह हम लोगों के कारण है, जो शहरों में रहते रहे हैं, विदेशी शासन में चमकते रहे हैं। हमारे गाँवों को वंचित रखा गया है, हमारे गाँवों को विदेशी सरकारों द्वारा जान–बूझकर दबोचे रखा गया है। शहर के लोग इस शर्मनाक कृत्य के इच्छुक/तत्पर औजार बने हैं। मैं समझता हूँ कि गाँवों को प्राणवायु/नवजीवन देना भावी स्वतन्त्र भारत का पहला जिम्मा होना चाहिए... मैं मानता हूँ कि हमें सशक्त केन्द्र की जरूरत है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि हाथ–पाँव कमजोर होने चाहिए। सशक्त हाथ–पाँव के बिना सशक्त केन्द्र नहीं हो सकता। यदि हम ग्राम–पंचायतों पर पूरी रचना खड़ी कर सकें तो केन्द्र स्वाभाविक रूप से मजबूत होगा। मैं सदन से आग्रह करता हूँ कि वह कुछ क्लॉज जोड़े ताकि देश के भावी प्रशासन में ग्राम–पंचायतों को कुछ प्रभावी भूमिका निभाने का

अवसर मिल सके...व्यक्ति पूरे संविधान की आत्मा है, किन्तु गाँव इस प्रशासन की मशीनरी का मूल आधार होना चाहिए। –अरुणचन्द्र गुहा (प. बंगाल)

- अम्बेडकर के प्रति पूरा सम्मान रखने के बावजूद संविधान के प्रारूपण के सन्दर्भ में मुझे कहना है कि वे स्वयं को उन लोगों की स्थिति में नहीं रख सके जो देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे हैं। एक झटके में उन्होंने ग्राम-पंचायत व्यवस्था की भर्त्सना कर डाली...गाँव विदेशी शासकों के उत्पीड़न-दमन के कारण उस दुर्गति में पहुँचे। दमन के बावजूद गाँव बचे रहे...इस कारण उस आधार पर ग्राम-पंचायत की भर्त्सना नहीं की जा सकती। मैं यह नहीं कहता कि ग्राम-पंचायत वैसे हों जैसा विवरण मेटकॉफ ने दिया है। ग्राम-पंचायत अद्यतन परिस्थिति के अनुकूल होने चाहिए जिसके पास शासन करने, मुद्रा पाने और उसे ग्रामीणों के हाथ में पहुँचाने की सच्ची शक्ति हो... मैं जानना चाहता हूँ कि संविधान के खाके में जो सरकार बनायी गयी है वह क्या है, किसके फायदे के लिए है? यह कुछ लोगों के लाभ के लिए है या उन लाखों लोगों के लाभ के लिए है, जो टैक्स देते हैं?... संविधान-सभा संविधान को इस तरह संशोधित करे जो जनता और लाखों लोगों के लिए लाभकारी बन सके। –टी. प्रकाशम (मद्रास)
- अम्बेडकर ने राह से भटककर ग्राम-पंचायतों के बारे में कहा और उन्हें आधुनिक संविधान की उपयुक्त पृष्ठभूमि के अयोग्य बताया। मैं कुछ हद तक उनसे सहमत हूँ पर साथ ही उन्हें राष्ट्रीय बर्बादी का कारण बताने की बात से सहमत नहीं हूँ। मैं सोचता हूँ कि क्रान्तियों और बदलावों के बावजूद गाँव ने भारतीय जीवन को संरक्षित रखा, उसके बिना भारत में केओस (अस्त-व्यस्तता) होती। मैं चाहता हूँ कि उपयुक्त सीमाओं के तहत ग्रामीण स्वायत्तता के सन्दर्भ में वैधानिक प्रावधान किए जाएँ। –के. संथानम (मद्रास)
- स्थानीय प्राधिकारों और गाँवों को नजरअन्दाज कर लोकतन्त्र के विचार को ही नकार दिया गया है। स्थानीय प्राधिकार देश के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन की धुरी हैं। यदि इनका स्थान इस संविधान में नहीं है तो मुझे कहने दें कि यह संविधान विचार लायक नहीं है। स्थानीय प्राधिकार अजीब दु:स्थिति में हैं। जो प्रान्त यह शिकायत करते हैं कि केन्द्र बहुत ज्यादा मजबूत है और उसने प्रान्तों के कई अधिकार हथिया लिये हैं, उन प्रान्तों ने ही कुप्रशासन के नाम पर स्थानीय निकायों के अधिकार हड़प लिये हैं। आज 50 प्रतिशत से ज्यादा स्थानीय निकाय प्रान्तीय सरकारों द्वारा अतिक्रमित हैं। यह हमारे पूर्ववर्ती ब्रिटिश दौर का रुख था और प्रान्तीय सरकारें पूरे स्थानीय निकायों को आमूलचूल बदलने की जगह उसी चलन का अनुसरण कर रही हैं। जब तक

संविधान में प्रान्त-सरकारों के लिए इन निकायों को ग्रामीणों के उत्थान के लिए उपयोगी संगठन के रूप में बनाने की दिशा नहीं दी जाती, यह दस्तावेज लोकतन्त्र की मूल्यवान प्रस्तुति नहीं बनने वाला। स्थानीय निकायों की वित्तीय स्थिति बदहाल है। पश्चिम देशों में स्थानीय निकायों के राजस्व के एकल स्रोत बिजली टैक्स और मनोरंजन टैक्स हैं। यहाँ ये कर भी प्रान्तीय सरकारें स्थानीय निकायों को नहीं सौंपना चाहतीं। ये कर प्रान्तों द्वारा हड़प लिये जाते हैं। इस कारण स्थानीय निकाय कंकाल मात्र रह गये हैं। यदि यही प्रवृति है तो आप स्थानीय निकायों और गाँवों के फलने-फूलने की कल्पना कैसे कर सकते हैं। गर्वनर जनरल ने और हमारे डिप्टी प्राइम मिनिस्टर ने भी अपने भाषण में कहा है कि कि हर ग्रामीण को यह एहसास कराना ही होगा कि उन्हें देश के प्रशासन में हिस्सा मिला है। मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि आबादी के सबसे बड़े हिस्से– ग्रामीणों को नजरअन्दाज करते हुए यह कैसे किया जा सकता है। –आर.के. सिधवा (सी.पी. एंड बेरार)

- इस संविधान से भारत की सच्ची आत्मा का प्रतिनिधित्व नहीं होता...हम सबने ग्राम-पंचायतों के बारे में सुना तो बहुत कुछ है, पर वे कैसे काम करेंगी, नहीं जानता। हमें एक अवधारणा को आचरण में ढ़ालना है। –ठाकुरदास भार्गव (पूर्वी पंजाब)
- अम्बेडकर के विचार इस सभा के किसी अन्य सदस्य के विचार नहीं हैं। भारी बहुमत उनके विचार से असहमत है...संविधान को ग्राम-गणतन्त्र की स्थापना का प्रावधान करना चाहिए... जब तक हम गाँवों को अधिक जिम्मेवारी नहीं देते हम उनकी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकते। –शिबनलाल सक्सेना (उ.प्र)
- गाँवों में संकीर्णतावाद नहीं है, हाँ, अज्ञानता है। अंग्रेजी भाषा और अन्य लिखित भाषाओं की अज्ञानता है। किन्तु वह स्थिति भी उस सरकार के कारण है, जिसने हमारी शिक्षा-व्यवस्था को बर्बाद कर दिया। जहाँ तक शास्त्रों और पुराणों से जुटायी गयी प्रकृति और बुद्धि के ज्ञान का सम्बन्ध है, मैं कहूँगा कि हमारे आधुनिक शहरों से ज्यादा बुद्धिमान और ज्ञानी गाँवों में हैं। मैं डॉ. अम्बेडकर से अपील करता हूँ कि वे ग्रामीणों को उनका देय/बकाया उन्हें दें। क्योंकि गाँव निकट भविष्य में अपने वास्तविक रूप में आएँगे, जैसा वे हुआ करते थे। –सारंगधर दास (ओड़िसा)
- मैं ग्रामीण संस्कृति में पला-बढ़ा हूँ, इसे प्यार करता हूँ...देश के निर्माण में ग्रामीणों को उचित हिस्सा मिलना चाहिए। हर क्षेत्र में ग्रामीणों का प्रभाव होना चाहिए। –चौधरी रणबीर सिंह (पूर्वी पंजाब)

- ग्रामीण शासन-तन्त्र पर अम्बेडकर की टिप्पणी पर काफी आलोचनाएँ आयी हैं। मैं उनसे सहमत हूँ। ग्राम-पंचायतों के प्रति आधुनिक रुझान काफी एकाधिकारी हो सकता है। –बेगम अजीजुल रसूल (उ.प्र)
- ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति खासकर खेत जोतने वालों और कृषि-मजदूरों की आर्थिक स्थिति पर आएँ तो संविधान के प्रारूप में ऐसा कोई प्रावधान नहीं पाता जो गाँव को एक इकाई के रूप में देखता है। सचमुच शोषण और अन्य कारणों से गाँव उजाड़, तकलीफ और बरबादी से त्रस्त हैं। किसी भी संविधान-निर्माता निकाय का यह उच्चतम कर्त्तव्य है कि वह गाँव को सही हाल में लाने की दृष्टि रखे। नियुक्ति की वंशानुगत पद्धति के कारण ग्रामीण अधिकारी, मनियागार और कारनाम गाँव के शासक हैं। भारत के प्रान्तों के प्रबन्धन हेतु ऊपरी स्तर के लिए संविधान बनाकर हम अगर ग्राम-पुनर्रचना के प्रश्न को अछूता छोड़ देते हैं तो मैं समझता हूँ कि हम गलत चीज कर रहे हैं...मुझे पूरा विश्वास है कि यह सभा... अपने समक्ष पेश प्रारूप पर फिर से विचार करेगी और ऐसे उपयुक्त संशोधन करेगी जिससे गाँव या गाँवों का समूह स्वशासित संस्थान की श्रेणी में आ सके... जिला-बोर्डों और नगरपालिकाओं में गाँवों और तालुकों के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं।- वी.आई. मुन्नीस्वामी पिल्लई (मद्रास)
- प्रारूप में कुछ भी लोकतान्त्रिक नहीं मिलता। विकेन्द्रीकरण अनुपस्थित है... हमने ऐसा संविधान बनाया है जो पूरी तरह विदेशी है। ड्राफ्टिंग कमिटी के चेयरमैन के द्वारा दिये गये तर्क कन्विन्सिंग नहीं हैं। –दक्षयानी वेलायुधन (मद्रास)
- ...संविधान में ग्राम-पंचायत व्यवस्था का प्रावधान नहीं है, तो वह भारत का संविधान नहीं हो सकता...यदि गाँव को नकार दिया जाता है तो कोई संविधान को अमान्य करने की माँग भी कर सकता है... इसे किसी भी परिस्थिति में संशोधन कर किसी भी रूप में शामिल किया जाना चाहिए। लोकतन्त्र हमारे शासन-व्यवस्था की आधारशिला होनी चाहिए, तभी हमारा संविधान पूर्ण होगा, तभी उसमें जीवन होगा, और हममें अनुभूति होगी कि संविधान हमारा अपना है। नहीं तो हम इस महान भवन को बालू की नींव पर बना रहे होंगे और यह निश्चय ही गिर जाएगा। –गोकुल भाई दौलत राम भट्ट (बॉम्बे स्टेट्स)।
- यह अवलोकन गलत है कि भारतीय जमीन पर ऊपर से ही लोकतन्त्र लाया जा सकता है। भारत के अतीत की आरम्भिक कालावधि में भी ऐसे विविध देशज संस्थान थे जहाँ लोकतान्त्रिक सिद्धान्त माने जाते थे...स्थानीय स्वशासन के सन्दर्भ में प्रान्तीय विधायिका में विशाल शक्तियाँ निहित हैं। गाँव को प्रशासनिक इकाई के रूप में स्थापित करने से प्रान्तीय विधायिका को कोई भी बात नहीं

रोकती, क्योंकि विविध क्रियाकलापों को बाँटने-सौंपने का कार्य प्रान्त-सरकारों में निहित है। –अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर (मद्रास)

- हमारे देश की सभी लोकतान्त्रिक परम्पराओं को नजरअन्दाज किया गया है। यदि वे केवल दक्षिण भारतीय ग्राम-पंचायतों की एक सहस्राब्दी की अवधि में उपलब्धियों को जानते होते तो ऐसा नहीं कहते ... मैं सदन को ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि वैसे अनेकानेक राजनीतिक संस्थानों को उपलब्ध कराने की जरूरत है, जो हमारे ग्रामीणों को यथासम्भव लोकतान्त्रिक संस्थानों का अनुभव लेने में और स्थापित होने वाले नये लोकतन्त्र में वयस्क-मतदान के जरिये अपनी जिम्मेवारी निभाने में सक्षम बना सके... ग्राम-पंचायत की इस आधारशिला के बिना हमारे लोकतन्त्र में हमारी जनता का अपना अधिकारपूर्ण हिस्सा निभा सकना कैसे सम्भव होगा?...हमने मौलिक अधिकार के अध्याय में और निदेशक तत्वों में अपने कुछ आदर्शों का उल्लेख किया है। किन्तु क्या अपने इन निदेशक तत्वों में किसी एक में पूरी तरह यह स्पष्ट करना आवश्यक नहीं है कि हरेक गाँव में या गाँव के हरेक समूह में ग्राम-पंचायत की स्थापना करना राज्य का दायित्व है। ताकि हमारे ग्रामीणों को स्वशासन के प्रशिक्षण में सहायता हो सके, सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक मामलों में ग्राम स्वायत्तता अर्जित हो सके। ताकि वे (ग्रामीण/गाँव) हमारे संविधान की शीर्ष रचना की आधारशिला बना सकें...उद्देश्य में हमारे गाँव में रहनेवाले लोगों के लिए कुछ भी नहीं कहा गया है...यह समय है कि हम इस पहलू पर भी ध्यान दें। –एन.जी. रंगा (मद्रास)
- संविधान स्वायत्त ग्राम-गणतन्त्रों पर आधारित होना चाहिए। कुछ खास लोग किसी मकसद से एक्स,वाई,जेड को इस या उस असेम्बली में चुनने मात्र के लिए जुटें, फिर बिखर जाएँ– लोकतन्त्र सिर्फ इतना ही नहीं है। भारत के राज्य की आज यही हालत है। गाँव के लोगों को लोकतन्त्र हेतु स्वयं को प्रशिक्षित करने का तनिक भी अवसर नहीं है। किसी के साथ उन्होंने उत्तरदायित्व का साझा नहीं किया है...ब्रिटिशों ने हमारी आजादी, हमारी विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था और गाँव-गणतन्त्र को बर्बाद कर दिया। उन्होंने सारी शक्ति गर्वनर जनरल में और अन्ततः ब्रिटिश पार्लियामेंट में संकेन्द्रित रखी। उन्होंने इसके लिए कदम उठाया कि गाँव अपने को अभिशासित न कर सकें... हमें अवश्य देखना चाहिए कि हम जो सामाजिक ताना-बाना बुनना चाहते हैं, उसके लिए गाँव इकाई है... किन्तु आज जो परिस्थिति है उसमें तत्काल ग्राम-गणतन्त्रों पर संविधान को आधारित करना पूरी तरह सम्भव है? मैं सहमत हूँ कि यह हमारा लक्ष्य होना चाहिए,पर वे गणतन्त्र हैं कहाँ? उन्हें तो अस्तित्व में लाना है...इसलिए मैं

सलाह दूँगा कि नीति निदेशक तत्वों में एक क्लॉज अवश्य जोड़ा जाए; जो ग्राम-पंचायतों को संगठित करने के लिए उन्हें, राजनीतिक स्वायत्तता देने के लिए, अपने मामलों को अपने तरीके से सँभालने हेतु आर्थिक स्वतन्त्रता देने के लिए विविध सरकारों पर जोर दे। –एम. अनन्तशयनम अयंगर (मद्रास)

- डॉ. अम्बेडकर नहीं जानते, स्वतन्त्रता-संग्राम में ग्रामीणों ने कितना बड़ा बलिदान दिया है... ग्रामीणों को देश के ऊपर अभिशासन करने में उनका वाजिब हिस्सा देना चाहिए। अगर यह नहीं होता तो वे भड़कने को बाध्य होंगे। –महावीर त्यागी (उ.प्र)
- ...व्यक्ति गाँव से अलग नहीं है। जब अम्बेडकर कहते हैं कि गाँव को अमान्य किया गया है और व्यक्ति को विचार में रखा गया है तो वे भूल जाते हैं कि व्यक्ति मिलकर गाँव रचते हैं और वे आबादी का 90 प्रतिशत हैं। –कृष्णास्वामी भारती (मद्रास)
- ... सदन चाहता है कि गाँव आगे आकर राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में अपनी पूरी भूमिका निभाए। मैं सदन से आग्रह करता हूँ कि वे संविधान में ही चुनाव प्रक्रिया का ब्योरा दें। –किशोरीमोहन त्रिपाठी (सी.पी.एंड बेरार)
- यह टिप्पणी आपत्तिजनक है कि भारतीय मिट्टी लोकतन्त्र के माफिक नहीं...मैं इतिहास और राजनीति दोनों का छात्र हूँ और पूरी निश्चितता के साथ कह सकता हूँ कि भारत में ग्रीस या दुनिया के किसी अन्य देश के काफी पहले लोकतन्त्र पनपा-बढ़ा...कोई सन्देह नहीं कि बाद में राजनीतिक विकास बाहरी आक्रमणों के कारण अवरुद्ध हो गया। फिर भी हम पाते हैं कि गाँव-गणतन्त्र के नाम पर वही लोकतन्त्र गाँव में काम करता रहा। –विश्वम्भर दयाल त्रिपाठी (उ.प्र.)
- संविधान गाँव के लोगों के लिए भोजन, वस्त्र सुनिश्चित करने के लिए होना चाहिए। इसी जरूरत की कमी ने हमें स्वराज की माँग के लिए आगे बढ़ाया था। यदि हमें अपने गरीब भाइयों के लिए भोजन, वस्त्र और आवास उपलब्ध कराना है तो गाँव और ग्राम-पंचायत हमारे संविधान का आधार होना चाहिए.... इस पूरे संविधान का आधारभूत विचार ब्रिटेन, रूस या अमेरिका के मुकाबले में आने और उनसे रिश्ता रेखांकित करने का है; उसमें देशवासियों, ग्रामीणों, शहरीजनों और गरीब लोगों के लिए कुछ करने का इरादा नहीं। –मोटुरी सत्यनारायण (मद्रास)
- यह सच है कि इतिहास के दौरान ग्राम-समुदाय निश्चल, गतिहीन रहा। पर यह उस राष्ट्रीय अवसाद की अवधि में हुआ, जब हर कुछ ठहराव की अवस्था में था, राजनीतिक जीवन स्वयं बिखराव में था, ग्रामीण समुदाय इतिहास के

मुख्य प्रवाह से उदासीन था। पर अन्य कालखण्ड में– स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन के दिनों में– ग्राम समुदाय ने शक्ति और सामर्थ्य प्रदान किया। मैं विश्वास करता हूँ कि यदि गाँव को पुन: उपयुक्त रूप से शक्ति प्रदान की जाए और शक्ति के प्रति सचेत बनाया जाए तो ग्राम-समुदाय न सिर्फ राज्य का सशक्त सहारा बनेगा, वरन इसकी शक्ति का मुख्य स्रोत भी बनेगा। –सुरेशचन्द्र मजुमदार (प. बंगाल)

- डॉ. अम्बेडकर की टिप्पणियाँ उनके अपने अनुभव पर आधारित प्रतीत होती हैं। मैं अपने स्वयं के अनुभव की रोशनी में बोलना चाहता हूँ। तीस वर्ष से मैसूर-सरकार ने अपनी गतिविधियों की अगली पाँत में ग्राम-समुदाय के पुनर्जीवन और ग्राम-पंचायतों के कार्य के सुधार के काम को रखा है।.... मैसूर की वर्तमान लोकप्रिय सरकार इस दिशा में आज भी तीव्र प्रयास कर रही है। परिणाम उत्साहजनक, कुछ मामलों में तो खुशी देने वाले हैं। यह सच है कि कुछ गाँव दीर्घकालिक रूप से खेमों में बँटे हैं। छोटे-छोटे अत्याचारों-आतंकों में फँसे हैं या अस्पृश्यता के गढ़ हैं। एक बड़ी संख्या उदासीन और मृतप्राय है, किन्तु लगभग 30 प्रतिशत को अच्छा में रखा जा सकता है। वे नियमित बैठक करते हैं, पंचायत टैक्स जमा करते हैं, कुछ ऐच्छिक जिम्मा लेते हैं, ग्रामीणों द्वारा अंशदानित स्वैच्छिक श्रम से सार्वजनिक सुविधाओं का और साप्ताहिक सफाई का काम करते हैं, बच्चों व अन्य लोगों का टीकाकरण सुनिश्चित करते हैं। ये अच्छे परिणाम बड़े हद तक अच्छे मुखिया/प्रमुख या अन्य प्रभावी भूपति की पहलकदमियों से हासिल किये गये हैं। मैं निश्चित हूँ कि देश के अन्य हिस्सों में कमोबेश ऐसी ही स्थिति होगी...कुछ छोटे भारतीय राज्यों में जहाँ प्रशासन की, अफसरशाही की घुसपैठ नहीं हुई है, मैंने गाँवों में स्वयं-सहाय्यी और संगठित प्रयास पाया है। प्रोविंशियल और स्टेट गवर्नमेण्ट के दीर्घकालिक प्रयास से ग्राम गणतन्त्र में फिर से जान भरने की उम्मीद की जा सकती है... ड्राफ्ट संविधान प्रान्तीय सरकारों को यथाशक्य पूरी सम्भव ताकत से ग्राम-पंचायतों को विकसित करने से नहीं रोकता। प्रमुखता से सोचने वाली बात यह है कि क्या विधायिका के लिए निर्वाचक स्कीम इन पंचायतों पर टिकी होनी चाहिए? यदि सभा इस फैसले पर आती है तो प्रारूप के दो अनुच्छेदों (आर्टिकलों) पर ध्यान से सोचना होगा। आप पार्टी पॉलिटिक्स के भँवर में ग्राम-पंचायतों को फेंककर ग्रामीण प्रशासन की एजेंसी के रूप में उसकी सारी उपयोगिता को हमेशा के लिए नष्ट तो नहीं कर रहे। –एन. माधव राउ (ओड़िसा स्टेट्स)
- श्री माधव राउ ने कहा कि मतपेटी और मतपत्र हमारे पूर्वज को ज्ञात नहीं थे। मैं उन्हें कहना चाहूँगा कि कांजीवरम से 20 मील दूर उत्तर मेरूर गाँव के मन्दिर में

दीवारों पर शिलालेख /अभिलेख में मतपेटी और मतपत्र का वर्णन किया गया है.... मतपेटी एक पात्र होता है जिसका मुँह बँधा होता था और उसमें एक छेद किया गया होता था। कदजन के पत्ते मतपत्र होते थे। वयस्क-मतदान होता था। वह मतदान सिर्फ गाँव के लिए नहीं, पूरे भारत के लिए होता था। यह सब बस हजार साल पहले होता था। –टी. प्रकाशम (मद्रास)

31A के रूप में पंचायत विषयक उद्धरण जोड़ने के प्रस्ताव के दौरान व्यक्त राय

- बहुत सारे लोगों ने इस आशय के प्रस्ताव दिये हैं, किन्तु कुछ में आत्मपूर्णता और अन्य शर्तें शामिल रखी गईं हैं। निदेशक तत्व में उतना विस्तार वांछनीय नहीं। प्रान्त-दर-प्रान्त ब्योरे बदल सकते हैं, बदलना भी चाहिए। एक जगह पचास परिवार के टोलों को ग्राम-पंचायत बनाया जा सकता है, दूसरी जगह छोटे नगर जैसे लगभग नगरपालिका-प्रशासन वांछनीय हो सकते हैं। निश्चित और सर्वसम्मत दिशा स्वशासन की इकाई के रूप में काम करने योग्य आवश्यक शक्ति और प्रावधान देने की हो...इस देश की स्वतन्त्रता की पूरी संरचना संगठित ग्राम-सामुदायिक जीवन पर आधारित हो।–संथानम
- हम उस प्रान्त के हैं (सी.पी. एंड बेरार), जहाँ पंचायती मामले में महानतम प्रगति हो रही है। ग्राम-पंचायत, न्याय-पंचायत, जनपद के कानून पूरे देश में चर्चा का विषय हैं...भारत के गाँव की हमेशा एक महत्वपूर्ण हैसियत रही है। हर देश के साथ ऐसा नहीं है। ग्रीस में शहरों को ज्यादा महत्व था, एथेंस और स्पार्टा में गाँवों को महत्व नहीं था। हेनरीमैन के ''एनसिएंट लॉ'', बैडन पावेल के ''इंडियन विलेज कम्युनिटी'' और बी.सी पॉल के ''फण्डामेण्टल युनिटी इन इंडिया'' में प्राचीन भारतीय ग्रामीण संगठन का जिक्र है। मुस्लिम राज में गाँवों का प्राथमिक महत्व माना गया। ब्रिटिश राज्य में उनकी महत्ता घटी, उपेक्षा हुई। ब्रिटिश राज मुट्ठी भर लोगों के समर्थन पर आधारित था। ब्रिटिश काल में प्रान्त, जिला, तहसील और ऐसे अन्य निकाय बनाये गये। ताल्लुकदारी, जमींदारी और मालगुजारी बनायी गयी... संविधान के निदेशक तत्व इस (पंचायतों की स्थापना के) मामले में केन्द्र के नेतृत्व का अनुसरण करने में योग्य बनाएँगे। –गोविन्ददास
- इस संशोधन में गाँवों को स्वयंनिर्भरता और स्वशासन की कुछ शक्ति मिली है। भारत के सात लाख गाँव संविधान के इस संशोधन का स्वागत करेंगे। गाँव के राजस्व से शहर का सृजन होता है, वहाँ सारी सुविधाएँ होती हैं। टैक्स के रूप में राजस्व देने वाला व्यक्ति बुनियादी सुविधाएँ तक नहीं पाता। इस संशोधन को स्वीकार कर हम सदियों से बरबाद किये जा रहे गाँवों की

पुनर्रचना की ओर काफी आगे जाएँगे। आज ऐसी पुनर्रचना की सख्त जरूरत है। –वी.आई.मुन्नीस्वामी पिल्लै

- देश को सशक्त और आत्मपूर्ण बनाने के लिए संविधान के नीति निदेशक सिद्धान्तों में इस क्लॉज को जोड़े जाने की जरूरत है। स्वयंपूर्णता का अर्थ, उत्पन्न करने योग्य सारी सामग्री उपजाना और पड़ोसी गाँव से जरूरी सामग्री मँगाना है। –वी.सुब्रमनियम
- संशोधन से पूर्ण सन्तुष्ट नहीं। वर्तमान संविधान में भी प्रान्तीय सरकारों को स्वशासन की इकाई के रूप में ग्राम-पंचायतों को बनाने चलाने की पर्याप्त शक्ति है। निदेशक सिद्धान्त में स्वयंपूर्णता के विचार को स्वीकार न करने का कोई कारण नहीं दिखता। रंगा, अनन्तशयनम अयंगर और प्रकाशम के संशोधन-प्रस्ताव में यह तत्व था। अयंगर के संशोधन में राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों के प्रभावी विकेन्द्रीकरण की विराट आवश्यकता का उल्लेख था। अभी का संशोधन सिर्फ राजनीतिक आत्मनिर्भरता देने की बात करता है। –एल. कृष्णस्वामी भारती
- स्वशासन सिर्फ राजनीतिक नहीं होता, यह आर्थिक और आध्यात्मिक हो सकता है। –सन्थानम
- इसी कारण उसे ज्यादा स्पष्ट करने की जरूरत है। मैं सभी मामलों में नहीं, खासकर जीवन की मुख्य जरूरतों के बारे में स्वयंपूर्णता की बात करता हूँ। भोजन और वस्त्र के मामलों में यथासम्भव स्वयंपूर्णता की बात कहता हूँ। इसका अर्थ सम्पूर्ण आत्मनिर्भरता नहीं है, कई मामलों में आपसी निर्भरता होगी। –एल. कृष्णस्वामी भारती

अम्बेडकर ने कुछ भी जोड़ने की जरूरत नहीं बतायी, संशोधन को दुबारा स्वीकार किया और संशोधन संविधान का हिस्सा बन गया।

संशोधन के बाद तीसरे पाठ के वक्त भी असन्तुष्टि की निरन्तरता बनी रही : कुछ असन्तुष्टि की ध्वनि, कुछ अपेक्षा के बोल

- आधुनिक भारत ऐसा बनना चाहिए जिसमें हमारी संस्कृति और सभ्यता कायम रहे। आाधुनिक युग के लाभ भी मिलें। इस दृष्टि से संविधान में कई कमियाँ दिखेंगी। –गोविन्द दास
- नागरिक और नागरिकता के अधिकार की शब्दावली में गाँवों की उपेक्षा और असम्मान दिखता है। ग्रामिकता (village-zen-ship) के अधिकार का जिक्र भी होना चाहिए, यह संविधान में कहीं नहीं है। –लक्ष्मीनारायण साहू
- ड्राफ्टिंग कमिटी में बड़े आदरणीय नाम हैं, बहुत सारे योग्य लोग हैं, पर उनमें कुछ

ही स्वतन्त्रता आन्दोलन से सहानुभूति रखनेवाले हैं। स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ न रहनेवाले इन लोगों ने संविधान-निर्माण में स्वाभाविक रूप से अपना दृष्टिकोण भरा। उनकी योग्यता समृद्ध थी, पर भारत जैसे देश और उसके भविष्य के लिए संविधान बनाने के लिए पर्याप्त न थी। ऐसी ही स्थिति थी जैसे, हम वीणा और सितार का संगीत चाहते हैं और हमें इंग्लिश बैंड का संगीत दिया जाए। इसमें संविधान-प्रारूपकारों का दोष नहीं है, दोष उन्हें जिम्मा देने वालों का है...संविधान-निर्माताओं ने विकेन्द्रीकरण नहीं अपनाया। —के. हनुमंतैया

- करने की जिम्मवारी से लोकतन्त्र चलाने की योग्यता आती है। अगर हम ब्रिटिशों की बात मानते कि भारत के लोग पर्याप्त शिक्षित नहीं, अधिकार के प्रति पर्याप्त जागरूक नहीं और लोकतान्त्रिक सरकार चलाने का जिम्मा स्वयं लेने लायक नहीं तब तो हमें अभी भी वह आजादी नहीं लेनी चाहिए थी— जो हमारी गौरवशाली उपलब्धि है। इरादे और रूप में संविधान लोकतान्त्रिक हो सकता है। पर लोक-सरकार का आकार साकार होने से काफी दूर है...पारित हो रहे संविधान में शासन के विविध अंगों के आपसी सम्बन्धों और स्थानीय स्वशासन का स्कोप काफी सीमित है। यदि आप केन्द्र के कार्यों से सम्बन्धित अनुसूची देखें और स्थानीय निकायों का काम देखें तो आप देखेंगे कि स्थानीय इकाइयाँ पूरी तरह शक्तिहीन बना दी गयी हैं। अपना जिम्मा प्रभावी तरीके से निभाने के लिए न उनके पास पावर है, न ही फण्ड है। —के.टी. शाह
- स्थानीय निकायों के बारे में संविधान मौन है। हरेक गाँव और ग्रामीण को सम्पन्न और स्वनिर्भर देखने के लिए जो हिस्सा गाँव को मिलना चाहिए, वह नहीं दिया गया है। ऑब्जेक्टिव रिजॉल्युशन (उद्देश्य संकल्प) के वक्त सदन का एक स्वर था कि केन्द्र सशक्त होना चाहिए। इस कारण ड्राफ्टिंग कमिटी ने यही विचार रखा। प्रान्त को कई अधिकार दिये गये, केन्द्र को मजबूत बनाया गया। मैं इसके साथ हूँ। पर इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि गाँव को भी मजबूत नहीं बनाया जाए और गाँव के स्वयं पर कुछ न छोड़ा जाए। मैं सचमुच खुश हूँ कि विविध प्रान्तीय सरकारों ने पंचायत विधेयक पारित किया है... किन्तु आप उन्हें अपेक्षित वित्त न दें तो वे क्या कर सकते हैं? मेरा क्षोभ यह है कि ग्राम-प्रशासन और ग्राम-स्वयंपर्याप्तता के लिए गाँव को पर्याप्त वित्त नहीं दिया गया है....जब तक गाँव में स्वयं-पर्याप्तता नहीं होती देश में सामान्य व्यक्ति के लिए खुशी और समृद्धि नहीं आ सकती। —आर.के. सिधवा
- ...हमें अनुभव के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए कि ग्राम-पंचायत निर्वाचक के रूप में हों और उनके द्वारा चुने गये लोग प्रतिनिधि के रूप में माने जाएँ। —गोकुलभाई दौलतराम भट्ट

- ...मैं इस बात को प्राथमिकता देता कि पंचायतें, लोकल काउंसिल, वयस्क-मतदान के जरिये गठित होतीं और अप्रत्यक्ष चुनाव होते। –अनन्तशयनम अयंगर
- लुईस फिशर के समक्ष व्यक्त गांधी के पंचायती राज खाके की तरह गाँव का एक मत हो, गाँवों के द्वारा जिला-शासन का निर्वाचन हो और जिला-शासन द्वारा प्रान्तीय शासन का निर्वाचन हो और प्रान्तीय शासन के द्वारा कार्यपालिका प्रमुख का निर्वाचन हो। –एच.वी. कामत
- ...आम तौर पर आधुनिक राज्य प्रान्त और केन्द्र के दो खण्डों के बीच शक्ति के बँटवारे पर आधारित होता है। भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, भाई-भतीजावाद को खत्म करने में दो खण्डों की व्यवस्था उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। –सेठ दामोदरस्वरूप
- पंचायती राज की योजना बनायी गयी थी, राष्ट्र को उसकी अनुशंसा की गयी थी...काफी आगे बढ़ चुके संविधान के फ्रेमवर्क में इसे शामिल करना कठिन लगा। तब उसे छोड़ दिया गया, तब नेतृत्व ने सुझाव दिया कि संविधान में निदेशक तत्व में इसे शामिल किया जाएगा...पंचायती राज को वहाँ रखा गया। मैं निदेशक सिद्धान्तों में ग्राम-पंचायत पद्धति के समावेश से खुश हूँ। इसका क्रियान्वयन इस देश के प्रभारियों और सरकार पर निर्भर होगा। –टी. प्रकाशम
- ड्राफ्ट बनाने वाली समिति के सदस्यों को, संवैधानिक सलाहकारों को अन्य देशों में जाने और वहाँ की संरचना को समझने का मौका मिला पर उन्हें भारत की राजनीतिक संरचना और दर्शन को बतानेवाला कोई नहीं मिला और उस पर विचार नहीं किया गया। –डॉ. रघुवीर
- ...हमारा संविधान लोगों की आकांक्षाओं और क्रान्ति (स्वतन्त्रता आन्दोलन) की विचारधारा की झलक देने में असफल रहा है। नये राज्य के मूलभूत सिद्धान्त और आधार के रूप में ग्राम-पंचायतों पर आधारित विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का स्पष्ट और विशेष उल्लेख होना चाहिए था। आर्टिकल 40 और 43 (ग्राम-पंचायत और कुटीर उद्योग) की रियायतों को छोड़कर क्रान्तिकारी और आर्थिक आदर्शों का प्रतिनिधित्व नहीं मिला है। पर मुझे हताशा नहीं है। इतिहास एक विकासशील प्रक्रिया है और मैं समझता हूँ यह संविधान एक स्टॉप गैप अरेंजमेंट है। हमें बढ़ना है ताकि बनाये जाने वाले संविधान में जनता की क्रान्तिकारी आकांक्षाओं का सही प्रतिनिधित्व मिल सके। –अरुणचन्द्र गुहा
- संविधान के ड्राफ्टसमैनों की नियुक्ति के समय हम संवैधानिक पण्डितों के ज्ञान और संवैधानिक वकीलों की सटीकता लेने के लिए व्यग्र रहे। हमने उन्हें भरपूर पाया... किन्तु हमने राजनेता की बुद्धिमत्ता और विवेक को नहीं चुना...और

न ही क्रान्ति की भावना की दिशा में अपने संविधान को सजाना तय किया...इस संविधान का कोई भी निर्माता क्रान्तिकारी संघर्ष की परीक्षा पास करने का दावा नहीं कर सकता... इस संविधान को शायद ही भारतीय क्रान्ति की सन्तान कहा जा सकता है। विश्व के उन संविधानों को देखें जो क्रान्तियों के उत्पाद रहे हैं। उनकी अपनी छाप है, जिसे दौड़ रहा व्यक्ति भी ब्रिटिश, रसियन या अमेरिकन संविधान के रूप में पढ़ सकता है। भारतीय लोक को शासित करने वाले संविधान ने हर वह संस्थान पाया है जो मनुष्य की स्वतन्त्रता की गारण्टी करता है, हर वह सिद्धान्त पाया है जो प्रगति, शान्ति और भ्रातृत्व बढ़ाता है। पर उसी वक्त हमें स्वीकार करना चाहिए कि संविधान ने हमारी क्रान्ति को प्रेरित कर रहे प्रगति के किसी निश्चित सिद्धान्त का प्रावधान नहीं किया है...हम ऐसे संविधान के प्रतिमान को पाने की स्थिति में नहीं हैं जो हमें और बाकी दुनिया को अहिंसक शान्ति की व्यवस्था दे सके...सिवाय सेक्शन 40 के जो 359 आर्टिकलों में और आठ अनुसूचियों में सिर्फ चार लाइन है... और कुटीर उद्योग के हल्के जिक्र के सिवा उस पद्धति के लिए कोई जगह नहीं है, जो जनसाधारण की पहलकदमी और रचनात्मक ऊर्जा से शक्तिकृत लाखों पंचायतों के पिरामिडनुमा संवैधानिक खाका का विस्तृत आधार साकार करता हो। केन्द्रीकृत समाज में पावर प्लांट पर गिरा एक बम सारी रोशनी गुम कर सकता है। लेकिन छोटे-छोटे मिट्टी के दीये में थोड़े तेल से जलती रोशनी भले चमक न बिखेर सके, पर अँधेरा तो नहीं रहने देती। मुझे डर है कि इस उच्च केन्द्रीकृत संविधान से हृदय की एप्पोप्लेक्सी (अनुभति-शून्यता) और किनारों/अन्त के अंगों को लकवा न हो जाए... इस केन्द्रीकरण के संविधान की आधारशिला पर निर्माण करेंगे तो कभी भी अपने जीवन और समाज को नव-उन्मुख/पुनर्उन्मुख नहीं कर सकते। –शंकर देव

- मैं जानता हूँ कि यह प्रावधान वह नहीं जो हम चाहते थे, फिर भी मुझे विश्वास है कि यदि हम सभी पंचायत के प्रावधान में अपना सामर्थ्य, अपनी आत्मा उड़ेलकर काम कर सकें तो सफल होंगे। –एस.एम. घोष
- निदेशक सिद्धान्तों में देश के आदर्श और लोगों के अधिकार दिये गये हैं। इनकी भाषा आकर्षक है, उत्कृष्ट है, गरिमापूर्ण है; पर यह कहीं नहीं कहा गया है कि राज्य अपने नागरिकों को भोजन, वस्त्र और मानवीय जीवन की अन्य बुनियादी जरूरतों को उपलब्ध कराने की जिम्मेवारी लेगा। प्रस्तावना में हम गर्व के साथ अपने को संविधान देने का उल्लेख करते हैं। किन्तु जहाँ हमें आग्रह और बुलन्दी के साथ घोषणा करनी चाहिए थी, वहाँ हम अचानक विनम्र हो गये हैं, क्योंकि हम सम्प्रभु बन चुके हैं। मौलिक अधिकारों के अध्याय में

हमें रोटी, कपड़ा ,मकान एवं अन्य जरूरतों का प्रावधान बनाना चाहिए था। यह तो प्राचीन शासन की भी धारणा थी। किन्तु इस मामले में हम 'यथासम्भव', ''राज्य की आर्थिक क्षमता के अन्तर्गत जितना है''– जैसी भाषा में उतर आये और लोगों के प्रति सच्ची जिम्मेवारी को कमजोर कर लिया। तथ्य यह है कि मौलिक अधिकारों के अध्याय में इस तरह के हल्के वादे का संकेत भी नहीं। –अलगुराय शास्त्री

- हमने पंचायत व्यवस्था की विदाई कर दी है। समन्वय और बेहतर प्रशासन के नाम पर हमने राज्यों को सिर्फ आदेशवाहक की हैसियत में गिरा दिया है। –अमियो कुमार घोष
- ...यह ऐसा संविधान है जिससे यह देश 10–12 साल से परिचित है। केन्द्र की जिम्मेवारी के अपवाद को छोड़कर यह तात्विक रूप में 1935 का कानून है... मुझे सन्देह है कि यह भारतीय जनता के मेधावी हिस्से को या आधुनिक युग की अपेक्षाओं को सचमुच सन्तुष्ट करता है। –पी.एस. देशमुख
- संविधान का खाका बनाने में हमने ऊपर से एक संविधान सुपरइम्पोज कर दिया है। ग्रामीण जीवन से शुरू करने की सच्ची कोशिश नहीं की गयी है। गाँव या ग्रामीण ही हमारी जरूरतों की आपूर्ति करते हैं; उन्हें सुधरने के अयोग्य या नकारयोग्य नहीं माना जा सकता। वे इस देश की बड़ी आबादी हैं। अगर वे कुछ लोगों की अपेक्षा पर खरे नहीं उतरते तो किसे दोष दें। अतीत में केन्द्र ने उन पर वह ध्यान नहीं दिया, जिसके वह हकदार थे। क्या हम भी वही करें? यदि हम ऐसा करेंगे तो वह हमारे लिए विनाशकारी होगा। दुर्भाग्यवश हमने 1935 एक्ट को आगे रखा है। इस देश के उत्थान के अन्य आवश्यक पहलुओं पर ढंग से नहीं सोचा गया। जो जरूरी था, उसे पाया नहीं जा सका। –श्यामनन्दन सहाय
- ...हम पंचायती राज के पुख्ता आधार पर, जो आज भी हमारी रगों में है और लोगों द्वारा समर्थित है, संविधान बनाते तो जेनुइन होता। इससे हमें छोटे- छोटे लोकतन्त्र मिलते। लोग उत्तरदायित्व के साथ अपने अधिकारों को उतारने में समर्थ होते। किन्तु अब इस संविधान के अन्तर्गत दो ही वर्ग होंगे : एक नया शासक वर्ग जो कारोबारों के संचालन में शीर्ष पर होगा और तल में सामान्यजन होंगे, जो पाँच वर्ष में बस एक बार वोट देंगे। –लोकनाथ मिश्र
- पंचायतों को कुछ अधिकार दिये गये हैं पर मुझे डर है कि उनके काम करने का कोई स्कोप नहीं है। –गोपाल नारायण
- अगर निदेशक सिद्धान्तों के ग्राम-पंचायत संगठन, 14 वर्ष तक के बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा के दायित्व का भावी सरकार द्वारा उपयुक्त ख्याल

किया गया तो यह पूरे देश के लिए अच्छा होगा...हमने वयस्क-मताधिकार दिया है, सरकार बनाने में देश के हर वयस्क नागरिक को स्वामी होने का अधिकार सौंपा है, तब पंचायतों के गठन में एक दिन की देर भी बेवकूफी होगी, गलती होगी। जब आपने उन्हें सरकार के गठन में उनके आवाज को अवसर देने का विश्वास किया है, यह स्वाभाविक है आप उन्हें कुछ जिम्मेवारी देने भर विश्वास करें। एक बार आप ऐसा करते हैं तो हम प्रशासनिक जिम्मेवारियों के एक बड़े बोझ से खासकर रोज-ब-रोज के मामले की जिम्मेवारियों के बोझ से मुक्त होंगे। जब तक आप जनता के प्रभार को सरकारी सेवकों के द्वारा किये जाने की अपेक्षा करेंगे, जनता अनुत्तरदायी बनी रहेगी, और सरकार के खिलाफ शिकायत करती रहेगी। पर जब आप स्थानीय प्रशासन के लिए कुछ जिम्मेवारियाँ दे देंगे, वे अपने मामलों का प्रभार निभाने में दिलचस्पी लेंगे। यह आलोचना आती है कि ग्राम-पंचायतें काम नहीं कर सकतीं क्योंकि ग्रामीण अज्ञानी हैं, वे सत्ता के लिए लड़ेंगे, छीना-झपटी करेंगे। किन्तु आप दैनिक अखबारों पर एक नजर डाल कर समझ जाएँगे कि अधिकांश प्रान्तों में प्रान्तीय नेताओं के बीच सत्ता की छीना-झपटी है। इस कारण यह तर्क बेकार है कि जनता अभी भी अपने स्थानीय स्वशासन, अपने सरोकार के हिस्से में भी अभिशासन के लायक नहीं है। मेरा यही प्रस्ताव है कि यथाशीघ्र ग्राम-पंचायतों का गठन किया जाए और गाँव के सरोकारवाली शक्तियों को ग्राम-पंचायतों को हस्तान्तरित किया जाए। ताकि इस देश को अभिशासित करने की अनेक समस्याएँ सुलझ जाएँ। —उपेन्द्रनाथ बर्मन

- आशा है कि इस विशाल देश के हर कोने में पंचायती व्यवस्था लाने के लिए भारत-सरकार आवश्यक कदम उठाएगी और जाति, आस्था/धर्म और रंग के किसी भेद के बिना ग्राम-स्वराज विकसित करेगी। —पी. कक्कन
- ग्राम-पंचायत सबसे निचले धरातल तक लोकतन्त्र का विस्तार है। कुछ वर्षों से भारत में लोकतन्त्र है, किन्तु सामान्य जन ने कभी महसूस नहीं किया कि उनके पास लोकतन्त्र है। ग्राम-पंचायत को स्थापित करने और सामान्यजन को स्वयंशासन करने की बात कहने से भारत बहुत अच्छा करेगा। —आर.वी. धुलेकर
- ...पंचायत तल पर होना चाहिए और पंचायतों के विस्तृत आधार पर लोकतन्त्र शंकु के रूप में उठना चाहिए...वयस्क मतदान एक अनजानी, अनांकित स्थिति है। उपयुक्त यात्रा-पथ के जरिये ही हम सुरक्षित जगह पर पहुँच सकते हैं। यह पंचायत-पद्धति है, जो हमारे गन्तव्य लोकतन्त्र का आधार है। —पी.के.सेन
- हर सत्ता यथासम्भव विकेन्द्रित होनी चाहिए और सत्ता गाँवों या गाँवों के समूह

की इकाई को दी जानी चाहिए। इसी कारण मैंने प्रस्तावना में संशोधन की एक नोटिस दी थी। ''रिपब्लिक'' (गणतन्त्र) गणराज्य के साथ ''यथा-व्यवहार्य स्वयं-पर्याप्तता के सिद्धान्त पर संगठित स्वायत्त ग्राम-इकाई या ग्रामों के समूह के आधार पर कार्यशील किए जाने वाले'' शब्दावली जोड़ने का प्रस्ताव दिया था। (to be worked on the basis of autonomous village units or groups of villages organized on the principle of self sufficiency as far as applicable) ...अम्बेडकर ने स्वयं माना है कि गाँव बचे रहे। इसके बाद वे कहते हैं कि अस्तित्व रक्षा पर्याप्त नहीं, अस्तित्व बचे रहने का कोई मूल्य नहीं...किन्तु आज क्या हालत है। खाद्यान्न के लिए भी हमें हाथ पसारना होता है...अर्थव्यवस्था के माामले में ग्राम-इकाई के प्रभावी और निर्णायक होने से ही सच्चे अर्थ में आजादी रखने और बचाने में हम समर्थ होंगे...अम्बेडकर कहते हैं कि ग्रामीण गणतन्त्रों ने देश के संरक्षण में हिस्सा नहीं लिया। क्या अम्बेडकर ने असहयोग आन्दोलन का इतिहास पढ़ा? यदि पढ़ा होता तो जानते कि ग्रामीणों ने उन नेताओं के हर आह्वान का सकारात्मक प्रतिसाद दिया, जो गाँव गये और गाँव को देश की आजादी लानेवाला माना। ग्रामीणों ने स्वतन्त्रता-संग्राम में महत्वपूर्ण हिस्सा लिया...यह मानना कि गाँव और ग्रामीणों ने कुछ नहीं किया और देश को बर्बाद किया, तथ्य को भुलाना है। ब्रिटिश राज के अन्तर्गत केन्द्र ने गाँवों का विनाश किया जहाँ देश की 90 प्रतिशत आबादी रहती है। और पूरे भारत को भिखमंगों की हालत में ला दिया। उस समय केन्द्र में हमलोग नहीं, दूसरे लोग थे। उनके अलग हित और मकसद थे। अब संचालन-शीर्ष पर हम सब हैं। बातें भी भिन्न होनी चाहिए। यदि हमें देश की अर्थव्यवस्था सुधारनी है तो व्यावहारिक कारणों से भी प्राचीन आधार पर गाँवों को संगठित करना होगा। देश की अर्थव्यवस्था विकेन्द्रित करनी चाहिए। ग्राम-पंचायत संविधान के मुख्य भाग में नहीं है। संविधान ग्राम-गणतन्त्र पर आधारित नहीं है, निदेशक सिद्धान्तों में इसका प्रावधान है। आग्रह है कि इसे यथाशीघ्र प्रभावी बनाया जाए, मानो यह संविधान की मूल संरचना में शामिल है। तभी हम सच्ची स्वतन्त्रता को साकार कर सकेंगे। —बी.पी. झुनझुनवाला

- सामान्य लोगों के लिए स्वतन्त्रता और संविधान तभी किसी महत्व का होगा, जब वह भोजन, वस्त्र, आश्रय और शिक्षा दे सके। लेकिन इस तरह का कुछ भी संविधान में उल्लेखित नहीं है। तब भी हम अपनी कार्यवाही से उस दिशा में काम कर सकते हैं। —बलवन्त सिंह मेहता
- ...विश्व के सर्वश्रेष्ठ लिखित संविधानों में एक होने के बावजूद यह संविधान अपने प्रति पर्याप्त उत्साह उभारने में विफल रहा और संविधान के घनघोर

प्रशंसक भी इस शंका से ग्रस्त हैं कि कुछ कहीं गड़बड़ है और बातें सही दिशा में आगे नहीं बढ़ रही हैं। –नन्दकिशोर दास

- हम कुछ नारों और आकर्षक शब्दों को सन्तुष्ट करने के लिए अति केन्द्रीकरण की विलासिता नहीं ढो सकते। –सरदार सोचेत सिंह
- सरकार में व्यक्तियों का जितना महतर और प्रभावी सहभाग होगा, उतना ही महतर लोकतन्त्र होगा। लोकतन्त्र अभी भी एक आदर्श है, जिसे मानवता के जरिये हासिल करना है। विकेन्द्रीकरण इस दिशा में कुछ कर सकता था, यदि संविधान में इसके लिए प्रावधान होता। –टी.जे.एम. विल्सन
- हम जो व्यवस्था स्थापित करने जा रहे हैं, उसका सिर नीचे की ओर है... ऊपर की ओर आधार और नीचे की ओर शीर्षवाली राजनीतिक व्यवस्था सच्चे लोकतन्त्र का माध्यम नहीं बन सकती....केन्द्रीकरण आधुनिक अभिशाप है। उत्पादन के केन्द्रीकरण ने पूँजीवाद को जन्म दिया और आर्थिक आजादी को समाप्त किया....हमने मुख्यत: विदेशी संविधानों से प्रेरणा ली। भारत की ऐतिहासिक भावना और संस्कृति, जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण पर नजर डालने का ख्याल तक नहीं किया। दुनिया के प्राचीनतम राष्ट्रों में एक इस राष्ट्र के राजनीतिक दर्शन पर न्यूनतम ध्यान भी नहीं दिया। –कमलापति त्रिपाठी
- गाँव का सामान्य जन इस संविधान की सुन्दरता नहीं देखेगा, बहुत गहरे नहीं जाएगा। वह देखेगा कि उसकी जरूरतों को पूरा करने के लिए संविधान में क्या है। क्या संविधान में स्वास्थ्यकर भोजन, वस्त्र, स्वास्थ्य और उचित शिक्षा की गारण्टी है। ऐसी गारण्टी उन्हें नहीं दिखेगी। अपना देश गाँवों का देश है। सभ्यता, संस्कृति में जो भी बचा है, गाँवों की गरिमा से बचा है। ग्राम-पंचायत के उल्लेख का एक छोटा अनुच्छेद, एक रेफरेंस के अलावे कुछ नहीं है। संविधान उस आकार पर मौन है, जो गाँवों को मिलेगा। संविधान में जाहिर प्रशासन और समाज की छवि में कहीं नही है... हमें पूरे प्रशासन और स्कीमों को गाँव के आधार पर रचना होगा। यदि ऐसा नहीं कर सके तो अतीत के कष्टदायी इतिहास में सिर्फ एक नया अध्याय जोड़ने का काम करेंगे। –दीपनारायण सिन्हा
- ...सर्वश्रेष्ठ राज्य वह है जो न्यूनतम शासन करे। क्या सभा के सदस्यों ने इस अवधारणा के आधार पर राज्य का गठन किया है। –ब्रजेश्वर प्रसाद
- ...मतपेटी की प्रस्तावित व्यवस्था को ग्राम-पंचायत की इकाई में आधार बनाकर स्थानान्तरित करने से ज्यादा सच्चा लोकतन्त्र आता। ...हम विकेन्द्रित सरकार के लिए क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने में नाकाम रहे। क्रान्ति अभी आनी है और जब आएगी, हमें संविधान बदलना होगा। –बसन्त कुमार दास

- जब आप ग्रामीणों को सच्ची जिम्मेवारी देते हैं, उनमें से हरेक अपना महत्व साबित करेगा और यह संविधान सफलतापूर्वक काम कर सकेगा। मैंने ग्राम-पंचायत को मौलिक अधिकार के अन्तर्गत लाने का एक संशोधन रखा था... उन्हें निदेशक सिद्धान्तों में डाल दिया गया। यदि निदेशक सिद्धान्तों के प्रावधान के अनुसार ग्राम-पंचायतों को बनाया गया, गांधी की इच्छा को पूरा किया जा सकेगा। –सतीशचन्द्र सामन्त
- ... मैं महसूस करता हूँ कि संविधान के पठन और बहस में छह महीना लिया जाना चाहिए था। तब हमारा संविधान आज की अपेक्षा पूर्ण होता। –रामचन्द्र उपाध्याय
- ग्रामीण नजर से चित्र सुस्त है, मृत है... हमने ग्रामीण को मत के सिवा कुछ नहीं दिया। जब जमीन जोतनेवाले इस संविधान के संचालन में समर्थ बना दिये जाएँ, तभी उन्हें सराहना योग्य माना जा सकता है। हमारी भूमि बाँझ नहीं, वह ऐसे नेतृत्व को जन्म देगी जो इस संविधान में इतना जान भरे कि यह बोल सके। यदि हम ऐसा प्रावधान जोड़ें, तो यह बोल सकेगा– ''संविधान में कुछ अन्तर्विष्ट होने पर भी भारत का कोई भी नागरिक अपने निजी उपयोग के लिए सार्वजनिक राजकोष या निजी उपक्रम से एक औसत मजदूरी अर्जक की आमदनी से अधिक वेतन, भुगतान, लाभ या भत्ता नहीं ले सकेगा।'' –महावीर त्यागी
- संविधान में गांधीजी के विचारों की सम्पूर्ण उपेक्षा तो नहीं हुई है, पर आधे मन से जल्दीबाजी में ठिठकते-हिचकते उसे रखा गया है...विकेन्द्रित लोकतन्त्र को प्रभाव प्रदान नहीं किया गया है। जीवन की जरूरतों- भोजन और वस्त्र के मामले में ग्राम-स्तर पर आर्थिक स्वयंपूर्णता को शामिल नहीं किया गया है। –एल. कृष्णस्वामी भारती
- ... संविधान में कृषकों और मजदूरों को महत्व नहीं दिया गया है। यदि महत्व दिया जाता तो भारत इस संविधान के साथ सहज ही हो जाता। जब तक ऐसा नहीं है भारत इसकी सराहना नहीं कर सकता, क्योंकि यह संविधान उनकी रोटियों की हिफाजत करता है जिनके हाथ रोटियों से भरे हैं, उनकी नहीं, जिनके हाथ खाली हैं। –एल.एस. भाटकर

कुछ उल्लेखनीय एवं मौलिक सुझाव

- भारतीय गणतन्त्र छोटे-छोटे स्वायत्त गणतन्त्रों का यूनियन होना चाहिए। ऐसे गणतन्त्र होते तो भाषाई प्रान्तों; साम्प्रदायिक अल्पसंख्यकों-बहुसंख्यकों, पिछड़े वर्गों का प्रश्न नहीं उठता। यूनियन की स्वायत्त इकाइयाँ अपनी संस्कृति के

अनुसार अपने पसंद की यूनियनों में शामिल हो सकतीं। –दामोदरस्वरूप सेठ

- कुछ छोटे और कुछ बड़े गाँवों के कारण कुछ कठिनाइयाँ हैं। पंचायतों को बनाने के लिए बहुत सारे छोटे गाँवों का पुनसर्मूहन करना होगा। एक चरण के बाद या जब सभी प्रान्त पंचायतों की स्थापना कर लेंगे तब उनके अस्तित्व को संविधान में मान लिया जाए ताकि लम्बे काल में प्रत्येक गाँव की स्थानीय स्वायत्तता इस देश के भावी स्वतन्त्रता का बुनियादी फ्रेमवर्क अवश्य बना सके। –के. संथानम
- संविधान के इस प्रारूप के अन्तर्गत उच्च सदन को प्रान्तीय विधायिका द्वारा अप्रत्यक्ष तरीके से चुना जाना है। मैं सोचता हूँ कि इसे ज्यादा विस्तृत मतदान से चुना जाना चाहिए। उच्च सदन को चुनने के लिए ग्राम-पंचायतें अपेक्षित होनी चाहिए। प्रान्तीय विधायकों द्वारा उच्च सदन को चुनने की विधि बहुत ही गलत है। यदि ग्राम-पंचायतों को उच्च सदन को चुनने का अवसर दिया जाए तो ज्यादा प्रातिनिधिक उच्च सदन बन पाएगा। –शिबन लाल सक्सेना
- भले ही सर्वभारतीय उद्देश्यों के लिए मतदान की इकाई के रूप में व्यक्ति को माना जाए, गाँव में परिवार इकाई हो। गाँव इसी दिशा में पुनर्गठित किया जाना चाहिए...(ग्राम गणतन्त्रों के अस्तित्व में आने पर) बाद में इन गणतन्त्रों या स्वायत्त पंचायतों के आधार पर संविधान रचा जाए। मैं प्रधानमन्त्री के इस कथन से सहमत हूँ कि इस संविधान को संक्रमणशील स्वरूप में रखा जाए ताकि उस अवधि में हासिल अनुभव की रोशनी में वयस्क मतदान के आधार पर एक भावी असेम्बली चुनी जाए जो हमारे संविधान को फिर से ड्राफ्ट करे, सुधारे या बदले। –एम. अनन्तशयनम अयंगर
- सच्चा लोकतन्त्र इकाइयों में ही हो सकता है। केन्द्र में प्रतिनिधियों के प्रतिनिधि होने चाहिए। उनके पास इकाइयों के निर्गत अधिकार ही होने चाहिए। –के.टी. शाह
- पंचायतें, लोकल काउंसिल वयस्क मतदान के जरिये गठित होतीं और अप्रत्यक्ष चुनाव होते। –अनन्तशयनम अयंगर
- गाँव का एक मत हो, गाँव के द्वारा जिला शासन का निर्वाचन हो, जिला शासन द्वारा प्रान्तीय शासन का निर्वाचन हो, प्रान्तीय शासन द्वारा कार्यपालिका प्रमुख-प्रेसीडेंट का निर्वाचन हो। –एच.वी. कामथ
- चार स्तरीय पद्धति की हमें जरूरत है। अलग ग्राम गणतन्त्र, अलग नगर गणतन्त्र, अलग प्रान्त गणतन्त्र होना चाहिए और उनकी संघबद्धता केन्द्रीय गणतन्त्र में होनी चाहिए। यह व्यवस्था हमें सचमुच एक लोकतान्त्रिक संघात्मक ढाँचा प्रदान करेगी। –सेठ दामोदरस्वरूप

गाँव की मौलिक अस्मिता, गाँव के अस्तित्व की वैधानिकता और गाँव की काल-प्रासंगिकता

गाँव निस्सन्देह एक ठोस सच्चाई है। भारत के लिए तो दशकों-दशक तक पूर्णत: ग्राम-विहीनता की कल्पना भी बेतुकी लगती है। आज भी देश की सबसे बड़ी आबादी गाँवों में बसी है। खासी आबादी गाँव छोड़ चुकी है, शहरों में पूरी तरह जम चुकी है। उस आबादी का भी एक हिस्सा भावनात्मक रूप से या जमीन के कारण भौतिक रूप से या रीति-रिवाजों के निर्वाह के लिए धार्मिक-सांस्कृतिक रूप से गाँव से आज भी जुड़ा हुआ है। शहरीकरण के विस्तार, तकनोलॉजी के विस्तार के बाद भी शहर तमाम शहरियों के लिए भी स्थायी और भरोसेमन्द, सन्तोषजनक और आत्मीय वास-विकल्प नहीं बन पाया है। शहरों के विस्तार और गाँवों के उजाड़ की समकालीन परिघटना और बहुविध भावी सम्भावना को गहराई में स्वतन्त्र रूप से परखने की जरूरत है।

गाँव के अस्तित्व को भले ही कोई नकार न सके; गाँव की प्रासंगिकता, गाँव के मूल्यांकन या गुण-आकलन को लेकर अलग-अलग नजरिये हैं। आजादी के लिए संघर्षरत भारत में भी ऐसा था और आजादी के अधूरेपन से बेचैन संघर्षरत आजाद भारत में भी ऐसा है। नवनिर्माण की कोशिशों में भी विविध दृष्टियाँ हैं। दृष्टि-विविधता की झलक हमें संविधान-सभा की बहस वाले अध्याय में देखने को मिल चुकी है।

गाँव की सकारात्मकता और नकारात्मकता, गाँव की प्रासंगिकता और अप्रासंगिकता को लेकर जितनी दृष्टियाँ टकराती रहती हैं, उनकी सम्यक समीक्षा होनी चाहिए। जितनी समीक्षाएँ, जैसी समीक्षाएँ होनी चाहिए, उतनी वैसी दिखती नहीं। यहाँ भी कुछ समीक्षा होगी। आलोचनाओं और सराहनाओं, प्रासंगिकता और अप्रासंगिकता की अतिरंजनाओं को छाँटते हुए एक यथार्थ दृष्टि की कोशिश होगी।

लेकिन यहीं एक ज्यादा बड़ी प्रासंगिक रिक्ति को महसूस करना एक बौद्धिक/विवेकीय अपरिहार्यता है। गाँव की बुनियादी पहचान, गाँव को रचनेवाले आधारभूत अंगों/घटकों को रेखांकित किये बिना गाँव का गुण-दोष तय होता है। गाँव की प्रासंगिकता, गाँव की भावी उम्र, गाँव का भविष्य मापा जाने लगता है।

यह समझने की जरूरत है कि किसी खास कालखण्ड के गाँवों के गुण या

दोषों की पहचान का मतलब उनकी प्रासंगिकता या अप्रासंगिकता को तय करना नहीं होता। दोषों की भरमार का निष्कर्ष भी अप्रासंगिकता नहीं होता। जब उसके अन्तर्निहित तत्वों में ही अधिकांश तत्व नकारात्मक हों, विनाशक, अमानवीय हों, तब उसकी अप्रासंगिकता, त्याज्यता, अस्वीकार्यता का निष्कर्ष बन सकता है। और उसके लिए गाँव की अस्मिता, ग्रामत्व या गाँवपन के बुनियादी घटक तत्वों की सच्ची पहचान की जरूरत है। यह नहीं किया जाता। जो दिखता है, जो माना जाता है, जिसे गाँव कहा जाता है, वही गाँव है– यही मान लिया जाता है। उसकी परिभाषा की जरूरत ही नहीं महसूस की जाती है। किन्तु क्या सचमुच जरूरत महसूस नहीं होती है? होती है। मानव-समुदाय के हर वासस्थल को अगर हम गाँव मानते तो शायद जरूरत नहीं पड़ती। टोला, गाँव, कस्बा, शहर, महानगर जैसे अनेकानेक नाम और रूप हैं सामुदायिक वासस्थल के। जरूर ही इनके बीच कुछ फरक हैं, तभी तो नाम अलग हैं और अलग-अलग उल्लेख भी हैं। अतीत के गाँव और आज के गाँव के बीच भी कई स्पष्ट फरक हैं। आज के ही गाँवों के बीच भी कई फरक हैं। भारत के गाँव और यूरोप के गाँवों के बीच में फरक हैं। आज के गाँव और भविष्य के गाँव के बीच भी फरक होंगे। हम बहुत सारे फरक लाना चाहते भी हैं। इन फरकों के बावजूद कुछ तत्व जरूर सब में हैं, तभी तो हम उन्हें गाँव कहना उचित मानते हैं। (वैसे यह भी हो सकता है कि कुछ वासस्थलों को जिन्हें गाँव कह दिया जाता है, वे सचमुच गाँव न हों, उन्हें गाँव कहना तत्वसंगत न हो। किन्तु उसके लिए भी गाँव के बुनियादी घटक तत्वों की अनुपस्थिति प्रमाणित करनी होगी।)

हम यहाँ स्थानीय स्वशासन की वैधानिक व्यवस्था की सबसे छोटी या आधारभूत/प्रत्यक्ष इकाई के रूप में गाँव की बात कर रहे हैं। इस कारण यह देखें-समझें कि संविधान, विधान-शृंखलाएँ और स्थानीय स्वशासन के विधान ग्राम और ग्रामीणों को किस रूप में मान्यता देते हैं। गाँव के अस्तित्व की निरन्तरता किन प्रक्रियाओं पर निर्भर करती हैं और उसमें गाँव की अपनी इच्छा और जनमत का क्या महत्व है, क्या प्रभावशीलता है। गाँव की वैधानिकता, निर्णायकता और सम्प्रभुत्ता/स्वायत्तता को देश के संविधान और कानूनों की कसौटी पर आँकने का ही काम हम यहाँ करना चाहते हैं।

गाँव की संवैधानिक और वैधानिक हैसियत

संविधान में कहीं भी गाँव की परिभाषा नहीं है। निदेशक तत्वों के अलावे कहीं उल्लेख नहीं। गाँव के निर्माण, खात्मा या अन्य भौगोलिक इकाइयों में विलय, गाँव के पुनर्गठन के बारे में भी कोई जिक्र नहीं है। संविधान में सम्भवत: यह मान्यता अन्तर्निहित है कि गाँव पारम्परिक रूप से निर्धारित हैं, और उन्हें उसी रूप में माना

जाना चाहिए। अगर गाँव के सन्दर्भ में कुछ करने की आवश्यकता हुई तो विधायी और कार्यपालक संस्थाएँ उस सन्दर्भ में फैसले लेंगी ही।

गाँव के बारे में कितने कानून हैं, कानूनों में खासकर गाँव की सीमा और निकटता में आनेवाले प्राकृतिक संसाधन– नदी, जंगल, खनिज, पर्वत तथा खेती और उद्योगों से सम्बन्धित कानूनों में गाँवो के क्या अधिकार, दायित्व और भूमिका लिपिबद्ध हैं– इसका विस्तृत लेखा-जोखा लेना गाँव की वास्तविक वैधानिक हैसियत को समझने के लिए उपयोगी होगा। किन्तु सामाजिक कार्यों के दौरान जिन कानूनों से रिश्ता बनता या पाला पड़ता है, विमर्शों और पढ़ने-सुनने के दरम्यान जिन कानूनों की जानकारी मिलती है, उसमें लगभग सारे कानूनों से गाँव की छवि भी गायब है। जबकि दरअसल उन कानूनों की प्रभावभूमि या प्रहारभूमि अधिकांशतः गाँव ही हैं। बेचेहरा, बिनहक, बिनजिम्मा गाँव कानूनों का बोझ ढोते रहने को बेबस हैं।

स्थानीय स्वशासन या पंचायती राज के कूननों में गाँव को स्पष्ट जगह हासिल है। भूदान आन्दोलन के समय प्रान्तों में ग्रामदान कानून बने थे, उसमें गाँव को प्रभावशाली सामूहिक अधिकार जमीन के मामले में हासिल है। गाँवों में सबसे ज्यादा उलटफेर करने वाले, स्वामित्व, उपयोग और संरचना बदलने वाले पुराने भूमि-अधिग्रहण कानून में भी गाँव को कोई जुबान नहीं दी गयी थी। प्राकृतिक संसाधनों पर गाँव के सामूहिक हक और विस्थापन के खिलाफ चल रहे गाँव के आन्दोलनों के परिणामस्वरूप नये भूमि-अधिग्रहण कानून और वनाधिकार कानून में ग्राम-सभा को जगह, सन्तोषजनक भूमिका मिली।

सामाजिक सांस्कृतिक पहचान बनाम वैधानिक-प्रशासनिक पहचान

इन कानूनों में उन सारे गाँव को नहीं माना जाता, जिन्हें हम गाँव मानते और कहते हैं। सरकार की सूची में दर्ज/घोषित राजस्व-ग्राम ही गाँव की मान्यता रखते हैं। एक-एक राजस्व-गाँव में अमूमन कई गाँव और उपगाँव (टोले) होते हैं। गाँव की सरकारी या कानूनी पहचान की इस स्थिति को गहराई से सूक्ष्मता में उतरकर समझने की जरूरत है। ग्राम-अधिकार के प्रति प्रतिबद्ध चिन्तकों, नेतृत्वकर्ताओं और कार्यकर्ताओं को तो खासकर। सरकारी पहचान में निहित ग्राम-विरोधी मानसिकता का पर्दाफाश तो 'सबसे ऊँची ग्राम-सभा' के उद्घोषकों से भी सुनने को नहीं मिला। इस कारण मुझे तो इसकी बेहद जरूरत महसूस होती है।

नतीजा क्या बनता है। पूरा गाँव, पूरा अंचल जिसे गाँव मानता है, वह सरकार की नजर में, सरकार की कार्यवाहियों में एक सरकारी गाँव/राजस्व-गाँव का अंश/खण्ड होता है। गाँव की सामाजिक-सांस्कृतिक अवधारणा और प्रशासनिक-

राजनीतिक अवधारणा में फरक होता है। गाँव का अपना अस्मिताबोध और सरकार की मान्यता में फर्क होता है। और सदियों से चली आ रही सर्वजनमान्य पहचान पर सरकारी चिन्हांकन आरोपित होता है। इस आरोपण की वजह से अस्मिता खण्डित, आहत और कमजोर होती है। गाँव की सामाजिक मानसिकता शिथिल होती है। गाँव का आत्मविश्वास, पहलकदमी और गतिशीलता भी इससे बाधित होती है।

दीर्घकाल से चले आ रहे पारम्परिक गाँव पर अलग गाँव के आरोपण की क्या कोई जरूरत थी? क्या हर गाँव राजस्व-गाँव के रूप में निर्धारित नहीं हो सकता था? यानी क्या प्रशासन सामाजिक-सांस्कृतिक गाँव को मानकर उससे अपनी शासकीय मान्यता नहीं जोड़ सकता था? सामाजिक-सांस्कृतिक और राजस्व-प्रशासनिक गाँव की अभिन्नता का विधान या चलन नहीं चला सकता था? कर सकता था। इसमें कोई दिक्कत नहीं आती। अगर आती भी तो सामाजिक-सांस्कृतिक गाँव को तरजीह देकर कोई अलग निकाय राजस्व-प्रशासन के लिए बना सकता था। वैसे भी राजस्व-गाँव में राजस्व कार्यालय या केन्द्र नहीं ही होता।

सरकारी गाँव की व्यवस्था के पीछे कुछ शासक-मानसिकता से जुड़े कारण समझ में आते हैं। जहाँ विषमता शासन को आधार ही नहीं, जन्म भी देती है; वहीं हर नयी विषमता, हर नया अलगाव शासन को ज्यादा शक्ति/वर्चस्व देता है। गाँवों के बीच एक स्वाभाविक भिन्नता होती है। किन्तु सम्मान, स्वायत्तता, महत्व और भूमिका में कोई गैरबराबरी हो, जरूरी नहीं। जैसे ही एक गाँव को राजस्व गाँव और कई को उसका अंग बना दिया जाता है, विषमता का बोध उपज जाता है। राजस्व गाँव वैसे ही गाँव को बनाया जाता है, जहाँ शासन-केन्द्र की सुगम पहुँच हो, जहाँ धन-शिक्षा-सामर्थ्य आदि में ज्यादा उन्नत लोग हों, जहाँ की आबादी का या उसके नेतृत्वकारी हिस्से का शासन से अनुकूल रिश्ता हो या अनुकूल रिश्ते की सम्भावना हो। उपरोक्त कारकों के कारण तुलनात्मक रूप से विकसित गाँवों की पहलकारी आकांक्षा का शासन पर भावनात्मक दबाव भी राजस्व-गाँव के निर्माण की वजह हो सकता है।

दूसरा कारण पारम्परिक पहचान के ऊपर एक भिन्न पहचान स्थापित कर अपनी निर्णायकता, अपने वर्चस्व को स्थापित करने की प्रवृत्ति हो सकती है। जो है, उसे मान लेने से सत्ता या वर्चस्व प्रत्यक्ष नहीं होता। जितना ज्यादा बदलें, जितनी भिन्न अस्मिता को मानें, सत्ता/वर्चस्व उतना प्रत्यक्ष उजागर होता है। प्रशासन/शासन की निर्णायकता को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करने और स्थापित करने के लिए भी सामाजिक-सांस्कृतिक इकाई में हस्तक्षेप कर उसके ऊपर एक अलग राजनीतिक इकाई को स्थापित किया गया होगा।

एक अन्य कारण भी हो सकता है। स्वाभाविक रूप से बने गाँवों तक बाहर से आयी आक्रमणशील सत्ता की घुसपैठ और दखल एक क्रम में ही बनती है। पहले स्तर पर जो गाँव प्रभुत्व क्षेत्र में आये, उन्हें राजस्व का केन्द्र बनाया गया और उनकी धुरी पर अन्य गाँवों तक राजस्व-आरोपण का सिलसिला चलाया गया।

वर्चस्व और आरोपण का सिलसिला हर जगह दिखता है। गाँव की स्वतन्त्र सामाजिक-सांस्कृतिक, सामूहिक नागरिकता की अस्मिता बार-बार खण्डित , उपेक्षित-आहत होती है। गाँव की निर्णायकता नहीं बन पाती। गाँव के अस्तित्व की वैधानिकता का मसला झूलता रहता है।

अनुसूचित क्षेत्रों में गैरराजस्व-गाँवों और छोटे टोलों को भी गाँव के रूप में मान्य करने, वहाँ की ग्राम-सभा को पंचायत-कानून में निहित हर भूमिका और अधिकार देने का अवसर है। पर यह अनिवार्य नहीं है। यानी हर टोले में ग्राम-सभा हो ही, यह जरूरी नहीं। सरकार को मनवाने लायक टोले की पहलकदमी या प्रशासनिक अधिकारियों की दिलचस्पी से ही वहाँ ग्राम-सभा काम कर सकती है। यह प्रावधान एक छूट और रियायत के रूप में है। मूल प्रावधान तो राजस्व-ग्राम को ही विधानसम्मत गाँव मानने का है।

हर गाँव में ग्राम-सभा नहीं हो सकती। अगर है तो वह अनौपचारिक ग्राम-सभा है। औपचारिक, वैधानिक और स्वशासन की राज्यप्रदत भूमिकाओं से सम्पन्न ग्राम-सभा नहीं है। यही गाँव और ग्राम-सभा के बारे में राज्य की, स्थानीय स्वशासन के विधानों की प्रचलित बुनियादी मान्यता है।

गाँवों की सामाजिकता-सांस्कृतिकता, आत्मनिर्भर अस्मिता के नकार के सिलसिले चलते ही रहते हैं। राजस्व-गाँव की ग्राम-सभा का हर बालिग व्यक्ति स्वत: ग्राम-सभा का सदस्य और ग्राम-सभा की बैठकों में सहभाग का अधिकारी बन जाता है, हमारा कॉमनसेंस तो यही कहता है। पर कानून ऐसा स्पष्ट तौर पर नहीं कहता। और स्पष्ट रूप से लिखित रूप में कुछ कहे बिना मानना मुनासिब नहीं। अधिकांश कानून उसी व्यक्ति को ग्राम-सभा का अधिकारिक सदस्य कहते हैं जिसका नाम मतदाता सूची में दर्ज हो (मतदाता सूची तो एक अलग सरकारी मशीनरी बनाती है)। गाँव जैसी प्रत्यक्ष और प्राथमिक इकाई में, जहाँ एक-दूसरे की अधिकांश बातें एक-दूसरे को मालूम होती हैं, वहाँ ग्राम-सभा की सदस्यता के लिए मतदान-सूची में नाम की अनिवार्यता शासकों का अपने हाथों में अतिकेन्द्रीकरण और गाँव के विवेक तथा निर्णय के प्रति आम अविश्वास के अलावे और क्या हो सकता है। प्रश्न तो ग्राम-सभा के साथ ही हर स्तर पर नाबालिगों की सहभागिता के बारे में भी बनता है। स्कूलों में यूथ पार्लियामेण्ट के कार्यक्रम होते हैं। मकसद राजनीति, शासन, लोकतन्त्र के बारे में जागरूकता बनाना कहा जाता है। क्या बच्चों के बारे में कोई योजना,

कानून या नीति बनाने; ख़ासकर शिक्षा के पाठ्यक्रम; खेल, छात्र-शिक्षक के बारे में कुछ भी सोचते-करते समय बच्चों को विमर्श या मत का अवसर नहीं दिया जाना चाहिए?

उच्च स्तर के शासन स्तर के निर्णय को अधिमान्यता की प्रशासनिक-वैधानिक परम्परा के कारण समकालीनता, तात्कालिक परिस्थिति सापेक्षता और अद्यतन वस्तुस्थिति की उपेक्षा सरकारी कार्यवाहियों-गतिविधियों में होती है। यह क्या मान्य होना चाहिए? निर्णय लेने में, तथ्यों को अन्तिम रूप देने में वक्त लगता है, इस कारण सरकारी आँकड़ों और तात्कालिक तथ्य में हमेशा एक फर्क होता है। पर उसे कम से कम करने की दिशा होनी चाहिए या ज्यादा से ज्यादा करने की? जहाँ न्यूनतम करना सम्भव हो, वहाँ भी जड़/गैरलचीली प्रक्रियाओं की वजह से गैप बनाये रखना क्या बुद्धिमत्ता है या सही मायने में शासन-सामर्थ्य भी है? अधिकांश मामलों में, सामान्य मामलों में निचली इकाइयों, ग्राम-सभा को अद्यतन विवरण को सम्पुष्ट करने का हक देकर ज्यादा से ज्यादा अद्यतन कार्यसंचालन हो सकता है, होना चाहिए। पर इस बारे में शायद ही कभी सोचा गया हो। बल्कि जिद्दी की तरह उसका उल्टा किया गया है। झारखण्ड के पंचायती राज में भी ऐसा हुआ है। ऐसा आमतौर पर कानून में भी दर्ज है। जनगणना का फाइनल रिपोर्ट न आने के हवाले से पंचायतों का चुनाव टाला गया। आबादी विषयक प्रावधान और कार्यवाहियाँ पिछली जनगणना की रिपोर्ट (चाहे वह आठ-नौ साल पुरानी क्यों न हो) के आधार पर ही होंगी– यह पंचायत-कानूनों में भी लिखा गया है।

पंचायत-चुनाव के लिए जो सीमांकन होते हैं, उन पर गौर करें तो झारखण्ड-बिहार हर जगह सिर्फ भौगोलिक अनियमितता और बेतुकापन ही नहीं, गाँव की सामाजिकता-सांस्कृतिकता का इरादतन उल्लंघन भी नजर आता है। उसे बचाने की संवेदना या कोशिश तो शायद ही कहीं दिखती है। पंचायत-स्तर की समिति बनाने के लिए पूरे पंचायत को कई वार्डों में बाँटा जाता है। वार्ड बनाने के लिए सामाजिक-सांस्कृतिक ग्रामों (राजस्व-ग्राम के खण्ड-ग्रामों) को भी तोड़ा जाता है। एक टोले को भी अमूमन एक वार्ड के रूप में नहीं माना जाता, वार्ड बनाने के लिए टोले को भी बाँट दिया जाता है। कभी-कभी तो दो टोलों को तोड़कर दो वार्ड बना दिये जाते हैं। इस तरह स्पष्ट रूप से रोज-ब-रोज की निरन्तर सामाजिक पारस्परिकता (लगाव और तनाव दोनों) जीने वाली इकाई को प्रशासनिक-विकासात्मक कार्य हेतु प्रतिनिधि चुनने के लिए तोड़ दिया जाता है। यहाँ भी पूर्वोक्त वर्चस्ववादी प्रवृत्ति काम करती होती है। इरादा हो या न हो, वार्डों के बँटवारे का एक निश्चित नतीजा यह होता है कि मतदाता (स्थानीय स्वशासन की इकाइयों का गठन करनेवाला मतदाता) पहले की अपेक्षा बिखराव और अलगाव में आ जाता है। उसके सदस्य

सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता और भूमिका तथा प्रशासनिक-स्वशासनिक अस्मिता और भूमिका अलग-अलग जीते हैं।

वार्डों, पंचायतों के गठन के पीछे जनसंख्या के एक रेंज का तर्क काम करता है। हर वार्ड और पंचायत जनसंख्या के हिसाब से कमोबेश बराबर हों या बहुत कम गैरबराबर हों– यह दृष्टि पहली नजर में निर्दोष ही नहीं, अच्छी भी लगती है। पर थोड़ी सूक्ष्मता में जाकर सोचें तो वैसी निर्दोष नहीं दिखती, बेतुकी दिखती है। जनसंख्या की यथासम्भव बराबरी राजस्व-ग्रामों, प्रखण्डों, थानों, जिलों, शहरों, महानगरों, प्रान्तों के बीच तो दिखती नहीं। विधानसभा एवं संसदीय क्षेत्रों में भी ऐसी आनुपातिक समता का वैसा आग्रह नहीं दिखता।

जनसंख्या/मतदाता-संख्या की समता का तर्क मतदाताओं को सामाजिक-सांस्कृतिक सामूहिकता की इकाई से अलग एकल व्यक्ति के रूप में देखता है। उन्हें सामाजिकता की एक अन्तर्क्रियाशील इकाई की जगह बस एक गिनती योग्य इकाई मानता है।

गिनती की समानता का क्या ध्येय है जो टोलों को अक्षुण्ण स्वशासन की इकाई रखने से पूरा नहीं हो सकता, इसका कोई मजबूत विचार जब तक नहीं आता, तब तक उसे सिर्फ प्रशासनिक निर्णय के कारण उचित नहीं माना जा सकता। कहा जा सकता है कि योजनाओं के आवंटन में, कर्मियों की बहाली में एकरूपता लायी जा सकती है। वह तो प्रति व्यक्ति की कसौटी तय कर पूरी समता से बड़े और छोटे टोलों के बीच भी किया जा सकता है। बड़े टोलों में व्यक्ति, भूक्षेत्र के हिसाब से ज्यादा और छोटे क्षेत्र में कम संसाधन देकर भी की जा सकती है। वैसे भी व्यक्तियों की संख्या की समता वार्डों की आवश्यकता की समता की गारंटीशुदा कसौटी नहीं हो सकती। वार्ड-वार्ड, टोले-टोले की सम्पन्नता-विपन्नता, पिछड़ापन और विकास, समस्याओं और जरूरतों तथा उनके समाधान के लिए जरूरी संसाधनों के स्तर पर भी बड़ी विषमता हो सकती है। भौगोलिक विषमता भी एक सच्चाई है, और इस विषमता के विविध कारक होते हैं। योजनाओं के निर्धारण और संसाधनों के आवंटन हेतु आबादी की बराबरी से ज्यादा प्राथमिक कसौटी वहाँ की आर्थिक-शैक्षणिक-स्वास्थ्यगत जरूरतें हैं। और आबादी की बराबरी समस्या की सदृशता और समता का निर्धारक तत्व तो शायद ही कभी होती है।

मौजूद ग्रामों की पहचान की वैधानिकता के प्रश्न पर विचार के वक्त यह खुलकर जाहिर हुआ है कि विधानों में प्रशासनिक पहचान आरोपणशील है, निर्णायक है। गाँव मुख्य रूप से कृषि राजस्व की प्रशासनिक-भौगोलिक इकाई के रूप में मान्यता प्राप्त है। गाँव की सामाजिकता, संस्कृति आदि प्रशासन के लिए आमतौर पर विचार-योग्य नहीं, कभी-कभी विचारणीय हैं भी तो दोयम स्तर पर। अगर आप

जिलों के सेंशस में (1991 के पलामू और सिंहभूम के सेंशस देखने के दौरान बार-बार यह तथ्य मेरे सामने आया) गाँवों की सूची देखें तो सरकारी मशीनरी की मर्मान्तक किन्तु आश्चर्यजनक ग्राम दृष्टि दिखेगी। जहाँ एक भी घर नहीं, परिवार नहीं, यानी साँस नहीं– एहसास नहीं, जिन्दगी नहीं, जहाँ रात में चिराग नहीं जलते, दिन में इनसानी चहलकदमी नहीं होती– वह जगह भी गाँव की सूची में दर्ज है। सेंशस में ऐसे गाँव दर्ज हैं– उनका नाम भी है। इन गाँवों का नाम बेचिरागी गाँवों के रूप में दर्ज है। पहले वे गाँव थे। अब वे गाँव ज्ञात-अज्ञात कारण से उजड़ गये, तब भी वे गाँव हैं। उनका नाम खत्म नहीं किया गया, उन गाँवों को किसी अन्य राजस्व-गाँव में समाहित नहीं किया गया, उनकी जगह कोई नया गाँव सरकारी पहल से नहीं बसाया गया। इस मायने में तो गाँव सरकारी नजरिये के तहत जीवन निरपेक्ष शाश्वत भौगोलिकता है, गाँव एक अमर भूक्षेत्र है।

अगली बात पर आने के पहले एक बार फिर कुछ पीछे दर्ज बातों पर आ जाएँ। वार्डों और पंचायत-क्षेत्रों का गठन पूरी तरह से प्रशासन के हाथ है। पारम्परिक भौगोलिकता को वरीयता देने का कोई प्रावधान नहीं है, उस पर गौर करने और अनुकूल निर्णय लेने का कोई प्रचलन भी नहीं है। गाँवों और ग्रामीणों की राय जानने का भी कोई प्रावधान नहीं। उस क्षेत्र के ग्रामीण इतिहास और संस्कृति को जानने वाले समाजशास्त्री-संस्कृतिशास्त्रियों की कोई टीम बनाने और उनकी अनुशंसा माँगने की बात भी कभी नहीं सोची गयी। फैसला पूरी तरह अधिकारियों के हाथ में है। और उनमें अधिकांश (झारखण्ड में तो गारण्टीशुदा तौर पर) उस क्षेत्र के गाँवों की सामाजिक बुनावट से भी लगभग अपरिचित, अपरिचित ही नहीं, आत्मीयता से भी दूर हैं।

पहचान की रक्षा का अधिकार भी गाँवों के पास नहीं

नैसर्गिक गाँव की सामूहिकता और उस सामूहिकता की भूमिका यानी ग्राम-सभा भी प्रशासन, पंचायती राज संस्थाओं के अधिकारी और सरकारी गजट में दर्ज घोषणा पर निर्भर है। यही है– गाँवों के बारे में शासन-दृष्टि।

अब आगे बढ़ें। गाँव का अस्तित्व सुरक्षित रखने, गाँव की शासन प्रदत्त या शासनमान्य पहचान भी सुरक्षित रखने के मामले में गाँवों की क्या स्थिति है, क्या नियति है– इस मसले पर गौर करें। गाँव खत्म हो रहे हैं। गाँव शहरों के मुहल्लों में विलीन हो रहे हैं। यह तो रोज-ब-रोज दिखने वाली परिघटना है। गाँव अपनी पहचान, अपना अस्तित्व खत्म होने से रोकने में सक्षम नहीं है– यह तो जीता-जागता निष्कर्ष है। यह अक्षमता शक्तिहीनता के कारण हो सकती है। इस कारण भी हो सकती है कि ग्रामीण गाँव को गाँव बनाये रखने में इच्छुक न हों। किन्तु क्या वे सशक्त होते, एकताबद्ध होते, गाँव को गाँव रखना चाहते, शहर का हिस्सा नहीं

बनना चाहते तब भी वे उसे बचाने का कोई वैधानिक अधिकार अपने पास रखे हुए थे? क्या उन गाँवों का अस्तित्वनाश ग्रामीणों की व्यक्त और किसी अनिवार्य वैधानिक सहमति से हुआ?

ऐसा नहीं है। गाँवों को शहरी क्षेत्र में लाना, पंचायती क्षेत्र को नगर-परिषद क्षेत्र में लाना, खेती की जमीन पर व्यावसायिक टैक्स लागू कर देना, भूमि का उपयोग पैटर्न कानूनी रूप से बदल देना– यह सब ब्यूरोक्रेसी की निर्णायकता के क्षेत्र में है। इसके लिए ग्रामीणों से अलग-अलग या ग्राम-सभा की बैठक की सहमति की कोई अनिवार्यता प्रशासन नहीं समझता, नहीं मानता। ऐसी वैधानिक अनिवार्यता है या नहीं– इस पर विवाद है, पर प्रशासन में इस पर कोई मतभेद नहीं। (पूर्वी सिंहभूम में दशकों पहले बालीगुमा गाँव नगर-क्षेत्र में लाया गया है। बालीगुमा के ग्रामीणों का विरोध भी व्यक्त होता रहा है। पर प्रशासन पर पुनर्विचार की बाध्यता नहीं बनी है।) ग्रामीणों की सहमति की अनिवार्यता नहीं और ग्रामीणों के विरोध के बाद भी पुनर्विचार और फिर से नयी प्रक्रिया चलाने की कोई वैधानिक बाध्यता नहीं- यही गाँवों के रूप-परिवर्तन के सरकारी निर्णयों का मूल तत्व है।

जाहिर है गाँव के अस्तित्व की इतनी वैधानिकता भी नहीं कि वह प्रशासन के निर्णय को रोक सके। नागरिक अपनी पहचान, अपनी आस्था का अधिकार रखता है, अपनी जाति– अपना धर्म सुरक्षित रख सकता है– पर सारे ग्रामीण मिलकर भी किसी गाँव की पहचान सुरक्षित रखने का हक नहीं रखते।

यहाँ एक मजेदार किन्तु धारदार सवाल कर लें– गाँवों को तो शहरी क्षेत्र में शामिल किया जाता है; क्या कभी शहरी क्षेत्र को ग्रामीण क्षेत्र में भी तब्दील किया जाता है?

ग्रामीण क्षेत्र और शहरी क्षेत्र में किसी भूक्षेत्र को रखने के अधिकार का प्रशासन बड़ा ही बेढंगा और मनमाना उपयोग करता रहा है। जहाँ खेत तक नहीं बचे, जो पहली नजर में ही शहरी क्षेत्र लगता है, जहाँ के लोग भी अपने को शहरी क्षेत्र का हिस्सा मानते हैं– वैसे क्षेत्रों का भी (शहर के बीचोबीच के भी) ग्राम का दर्जा कायम है। और जिसे शहर के लोग और गाँव के लोग भी गाँव जैसा मानते हैं, जहाँ सामाजिक कौटुम्बिकता की प्रधानता है, जहाँ खेती ही मुख्य पेशा है वैसे क्षेत्रों को भी शहरी क्षेत्रों में डाल दिया गया है। यानी गाँव की नियति तय करने के मामले में प्रशासन की निरंकुश निर्णायकता है। वैसे सांगठनिक ताकतों से प्रशासनिक निर्णय को बदलने के भी गिने-चुने प्रमाण मिलते हैं। चाईबासा नगर परिषद में 13 गाँवों को शामिल करने का प्रस्ताव मानकी-मुंडा संघ और ग्रामीणों की आपत्ति के बाद बदला। दो गाँवों को नगर परिषद में डाला गया। 11 गाँवों को परिषद में डालने का प्रस्ताव वापस हो गया।

नये प्रखण्ड, नये थाने, नये जिले बनाने के काम होते रहते हैं। इन नये प्रशासनिक इकाइयों के निर्माण के पीछे वोट की राजनीति, राजनीतिक उठा-पटक भी होती रहती है। इसी तरह नये राजस्व-गाँव भी बनते रहते हैं? बनते भी होंगे तो उनका तनिक भी प्रचार नहीं होता। उनके पीछे वैसी राजनीतिक स्वार्थसिद्धि जो नहीं होती। राजस्व-ग्राम में कोई शक्ति कहाँ निहित है कि ऐसे नये निर्माण में रुचि ली जाए। संविधान-संशोधन के जरिये अस्तित्व में आये अनिवार्य पंचायती संस्थानों के हाथ में भी गाँव के अस्तित्व, अस्मिता और भविष्य के निर्धारण की भूमिका नहीं दी गयी। वह प्रशासन के हाथ में ही बनी रही।

आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में नये-नये टोले और गाँव बस रहे हैं। गाँवों की पुरानी बसाहट बदल रही है। टोलों की नयी पहचान, नये नाम भी सहज रूप से विकसित होंगे ही। शहरों में तो खाली जगहों पर बनी बस्तियों को अतिक्रमण माना जाता है, उन बस्तियों को अवैध बस्ती माना जाता है। बसते नये टोलों, गाँवों को प्रशासन कैसे सम्बोधित करता है। ग्राम-पंचायती संस्थानों, स्कीमों में उनकी क्या जगह, क्या हिस्सेदारी होती है। प्रशासन उनकी पहचान सुनिश्चित करने, किसी राजस्व-गाँव के साथ जोड़ने की कोई भूमिका और प्रक्रिया निभाता भी है या नहीं— इन सारी जानकारियों के बाद कुछ और परिघटनाओं और प्रवृत्तियों की झलक देखने को मिल सकती है।

यहाँ यह गौर करने की बात है कि नया देश बनाना या देश से अलग होने की कोई संवैधानिक प्रक्रिया अमूमन नहीं होती। देश तो सम्प्रभु होता है। प्रान्त देश के अंग होते हैं। वे संवैधानिक अंग हैं। उनकी सूचियाँ, उनमें निहित अधिकारों की सूचियाँ संविधान में दर्ज हैं। प्रान्त को तोड़ना हो, प्रान्त में जोड़ना हो, नया प्रान्त बनाना हो तो उसके लिए संवैधानिक-वैधानिक प्रक्रिया निभानी होती है। जिला, प्रखण्ड, पंचायत और गाँव के लिए पुनर्गठन, नवनिर्माण आदि के लिए ऐसी कोई प्रक्रिया, संवैधानिक-वैधानिक प्रक्रिया नहीं है। क्योंकि इनकी सुपरिभाषित पहचान और उनकी अस्मिता, उनका अस्तित्व संविधान या किसी बुनियादी विधान में दर्ज नहीं है। इसे ध्यान में रखें तो यह बात साफ होगी कि संविधान-संशोधन के बाद भी ग्राम-सभा संवैधानिक इकाई नहीं बनी। बनी भी तो एक सामान्यीकृत रूप में, हर मौजूद गाँव संवैधानिक इकाई नहीं बना। गाँव अपना अस्तित्व, अपनी पहचान सुरक्षित रख पाने के मामले में भी निर्णायक या स्वायत्त नहीं बना।

गाँव की बुनियादी पहचान और प्रासंगिकता

पंचायती राज संस्थाओं के किसी भी चिन्तन में गाँव पर फोकस होना ही चाहिए। गाँव पंचायती राज की बुनियाद है, उद्गम है, स्रोत है।

गाँव पर फोकस होने का प्राथमिक कर्म यह है कि गाँव को पहले परिभाषित किया जाए। गाँव की पहचान की जाए।

गाँव है क्या? क्या-क्या बातें होंगी ही, तभी हम कहेंगे कि यह तो गाँव है। शहरों से, कस्बों से कौन सी बातें गाँव को अलग करती हैं? क्या गाँव और शहर का विभाजन या वर्गीकरण अनिवार्य है? कहीं यह विषमता के उद्‌भव और फैलाव के साथ बनने-फैलने वाला विभाजन या वर्गीकरण तो नहीं? (जिसमें शहर क्रमशः प्रधानता और प्राथमिकता पाता गया)।

गाँव, कस्बा, शहर सभी बुनियादी तौर से मनुष्य के वास क्षेत्र हैं। आकार के हिसाब से आम तौर पर (कुछ अपवाद हैं, हो सकते हैं) शहर गाँव से बड़े होते हैं, पर बाजार-पट्टी और कस्बों के साथ यही तुलना जमती-जँचती नहीं। बहुत सारे गाँव बाजार-पट्टी और कस्बों के बराबर या बड़े भी होते हैं।

सामाजिक-सांस्कृतिक सम्बन्धों, आर्थिक गतिविधियों और बाशिन्दों के वास की कालिकता और स्थिरता के आधार पर कई स्पष्ट फर्क देखने को मिल जाते हैं। नकारात्मक हो, सकारात्मक हो, बराबरी वाली हो या गैरबराबरी से भरी हो– गाँव के लोगों के बीच आपसी परिचय होता है, जान-पहचान होती है, अनजानापन तो नहीं ही होता। उनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध भी किसी न किसी रूप में होता ही है। गाँव में रक्तसम्बन्धियों, गोतिया परिवारों की ही मुख्य समूहबद्धता होती है। इनकी सघनता, बहुलता होती है। (अलग-अलग जाति के लोग होते हैं। पर एक खास जाति में रक्तसम्बन्धियों की ही बहुलता होती है)। विविध जातीय उपस्थिति वाले गाँवों में, गाँव भिन्न-भिन्न जाति के रक्तसम्बन्धियों का सामूहिक वास स्थल होता है। गाँव की सामूहिकता में पारिवारिकता की प्रधानता होती है। यहाँ की सामूहिकता पारिवारिक सम्बन्धों और जातीय सम्बन्धों से ज्यादा निर्धारित-परिभाषित होती है। इस कारण पारस्परिकता ज्यादा गहरी और ज्यादा बन्धनकारी भी होती है। जातीय सम्बन्ध, परिवारों के सम्बन्ध से ऊपर भी ग्रामीण सामूहिकता की एक परम्परा गाँव में सामान्य रूप से होती है– ग्रामदेवता या ग्रामदेवी, नियतकालीन ग्रामपूजा जैसे सिलसिले अभी भी होते हैं। कम से कम वे ग्राम-मानस में स्मृति के रूप में, भावनात्मक स्मृति के रूप में उपस्थित तो होते ही हैं। कुलदेव या कुलदेवी की परम्परा भी गाँव में ही जीवन्त है या बाहर बसे लोगों के द्वारा गाँव जाने पर ही जीवन्त होती है। (ये देव, देवी, कितना धार्मिक और ईश्वरीय हैं और कितना सामाजिक-सांस्कृतिक यह एक और विचारणीय प्रश्न है)। सार रूप में कहा जा सकता है कि आपसी जान-पहचान और हाल-चाल की जानकारी की सर्वव्यापकता, एक अनिवार्य ग्राम-आधारित सामूहिकता, निरन्तर अन्तर्क्रियाशीलता, रक्तसम्बन्धों या पारिवारिक सम्बन्धों की प्रधानता, पारस्परिकता की गहनता-निरन्तरता और

हस्तक्षेपशीलता गाँव की सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान के वे तत्व हैं, जिनके आधार पर वह कस्बों और शहरों से अलग ठहरता है, अलग पहचाना जा सकता है।

इन सांस्कृतिक-सामाजिक तत्वों के साथ आर्थिक-प्राकृतिक श्रेणियों के कई खास तत्व भी गाँव के साथ अनिवार्य तौर पर नैसर्गिक रूप से जुड़े दिखते हैं। मनुष्य-निर्मित वातावरण और प्रकृति सृजित वातावरण का आनुपातिक सम्बन्ध स्पष्ट तौर पर, वर्चस्वशील तौर पर गाँव में प्राकृतिक वातावरण की ओर झुका होता है। यानी गाँव में मूलतः प्राकृतिक तथा प्रकृति प्रधान/उन्मुखी परिवेश मनुष्य-निर्मित परिवेश से ज्यादा बड़ा होता है। (यहाँ यह ध्यान रखने की जरूरत है कि केवल आवास-क्षेत्र नहीं, गाँव के अन्तर्गत माने जाने वाले सारे भूक्षेत्र की बात हो रही है)। अमूमन उद्योग की अपेक्षा कृषि, बागवानी एवं पशुपालन जैसी आर्थिक गतिविधियाँ ज्यादा होती हैं। उद्योग होते भी हैं तो पारम्परिक हस्तशिल्प, कुटीर उद्योग या कहें तो परिवार केन्द्रित उद्यमों की ही बहुलता होती है। कृषि, बागवानी और पशुपालन से जुड़ी आर्थिक गतिविधि भी परिवार-केन्द्रित ही होती है।

आबादी की निवास की परिस्थितियों को देखें तो गाँव की आबादी की कालिकता दीर्घ होती है। अमूमन अधिकांश आबादी पीढ़ियों से, सदियों से वहाँ बसी होती है। ग्रामीण आबादी लगभग स्थिर या निरन्तर (यहाँ वृद्धि या ह्रास का सन्दर्भ नहीं, अल्प परिवर्तनशीलता का सन्दर्भ है) होती है। आवागमन, स्थान-परिवर्तन या आबादी की परिवर्तनशीलता लगभग एकदैशिक ही रही है। गाँव के लोग ग्रामेत्तर वासस्थलों, रोजगार-केन्द्रों में तो जाते हैं, पर बाहर से कोई नयी आबादी अपवादस्वरूप ही किसी गाँव में आती है। इस प्रक्रिया को गाँव के अपरिहार्य क्षरण या मरण की परिघटना का साक्ष्य माना जाना चाहिए या नहीं—यह बेहद गम्भीर और जटिल समाज-आर्थिकी प्रश्न है।

सूत्र रूप में इन तत्वों को गाँव के विशिष्ट एवं बुनियादी घटक तत्वों के रूप में व्यक्त किया जा सकता है—

- रक्त-सम्बन्ध आधारित परिवारों की सहवासिता
- पारस्परिक परिचय की सर्वव्याप्ति
- अनिवार्य ग्राम-आधारित सामाजिक परम्पराशीलता
- पारस्परिक सम्बन्धों में सघनता और हस्तक्षेपशीलता
- प्राकृतिक परिवेश की प्रभुत्वशीलता
- परिवार-केन्द्रित विकेन्द्रित खेती, बागवानी, पशुपालन की प्रधानता
- पारम्परिक गृह-उद्यमों की प्रधानता
- आबादी की स्थिरता, निरन्तरता
- निवास की आनुवांशिक निरन्तरता/दीर्घकालिकता।

- सारे बाशिन्दों के बीच में समझ आनेवाली सम्प्रेषणीयता (भाषाई-जुड़ाव)

अब इन तत्वों की वांछनीयता या अवांछनीयता के आधार पर तय किया जा सकता है कि गाँव कितने वांछनीय या अवांछनीय हैं? हमारे आदर्श भविष्य में जगह पाने के कितने योग्य हैं?

इस प्रश्न का यहाँ इस अध्ययन के लिए भी आवश्यक प्रसंग है। ग्राम-सभा और उसके ऊपर बननेवाली पंचायती राज संस्थाओं के मूल्यांकन और बेहतरी के उपायों का परिप्रेक्ष्य इन प्रश्नों से तय होता है। हम मात्र समकालीन और तात्कालिक उपस्थिति वाले संस्थान के बारे में भूमिका तय कर रहे हैं जिसका भविष्य अनिश्चित है या समाप्त होने वाला है या कि ऐसे संस्थानों के बारे में सोच रहे हैं जो आज तो है ही, उसे और सबल और प्रखर होना चाहिए और भविष्य में उसमें लगातार निखार आना चाहिए, उसे पूर्णता हासिल करना चाहिए।

यहीं इस सवाल को भी ले लेना चाहिए कि गाँव और भारत के विनाश का क्या सम्बन्ध है। गाँव की गड़बड़ियाँ देश और समाज के विनाश के कारक हैं या देश और समाज के विनाश के परिणाम हैं? वे अपने अपरिहार्य अन्त की बाट जोहते विनष्ट अंश हैं या नवनिर्माण/रूपान्तरण के लिए बेचैन आहत अंश हैं? संविधान-सभा में आये इन दो विश्लेषणों का भी एक हद तक जवाब घटक तत्वों के मूल्य-आकलन से मिल सकता है।

यह काम विपरीत माहौल में करना है। समाज और राज का मनोवैज्ञानिक, आर्थिक और सांस्कृतिक वातावरण गाँव की प्रासंगिकता और औचित्य की नकारात्मक दिशा में है। गाँव को पिछड़ापन का प्रतीक माना जाता है। गाँव के लोग भारी पैमाने पर शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं। शहरीकरण के विस्तार को अर्थशास्त्री और योजनाकार लगभग एक स्वर से विकास/प्रगति की कसौटी, विकास का पैमाना मानकर देश का और प्रान्तों का विकास माप रहे हैं। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच न्यूनतम लगाव/जुड़ाव और अधिकतम अलगाव को व्यक्ति की स्वतन्त्रता और गरिमा की रक्षा और विस्तार के लिए आवश्यक माना जाने लगा है। सामूहिकता, पारस्परिकता और निजता दोनों को समान महत्व देने और उनके सही सन्तुलन को रचने की जगह पारस्परिकता को हस्तक्षेप की तरह लेने और निजता पर अत्यधिक जोर देने की मानसिकता समाज के असरदार और मुखर लोगों में बढ़ती जा रही है।

वास्तविक रुझान गाँव के खिलाफ है। गाँव की प्रतिशत आबादी घट रही है। शहरी आबादी बढ़ रही है। गाँव कम हो रहे हैं, शहर बढ़ रहे हैं। विकसित देशों में लगभग पूरा शहरीकरण हो गया है। वहाँ ग्रामीण आबादी कुल आबादी का बस छोटा सा हिस्सा होकर रह गयी है। यथास्थितिवादी और पूँजीवादी विचार में ही नहीं, क्रान्तिकारी-समाजवादी विचार में भी भविष्य की कल्पना में खेती के ऊपर

उद्योगों को दर्जा/वरीयता मिलती है। दोनों ही विचार में शास्त्रीय सूत्रीकरण में किसान, कृषक मजदूर से ज्यादा चेतनशील औद्योगिक मजदूर को माना जाता है। किसान को पारम्परिक, परिवर्तन-विरोधी संस्कार से ग्रस्त और औद्योगिक मजदूर को परिवर्तन की चेतनशीलता का स्वाभाविक वाहक, परिवर्तन की सम्भावना का सुपात्र माना जाता है। मौजूदा आर्थिक गतिविधियों में कई स्तरों पर कृषि से आगे उद्योग और उद्योग से आगे सेवा क्षेत्र बढ़ता गया है। गाँव के पक्ष में, किसानों के पक्ष में खड़े लोग परिवर्तन के पारम्परिक विचार के विकल्प में ऐसी नयी विचारधारा नहीं गढ़ पा रहे जो गाँवों और किसानों को भी परिवर्तन के सुयोग्य और निर्णायक वाहक साबित कर सकें।

गाँव के बुनियादी संघटकों को जाँचें तो अधिकांश निर्दोष और सकारात्मक हैं। रक्तसम्बन्ध-आधारित परिवारों की वर्चस्वशील उपस्थिति, पारस्परिक सम्बन्धों की हस्तक्षेपशीलता की हद तक सघनता, निवास की आनुवंशिक निरन्तरता और जीवन की गतिहीनता या बेहद कम परिवर्तनशीलता/नवीनता जैसे तत्व सीधे-सीधे नकारात्मक तो नहीं हैं, पर वितृष्णा जरूर जगाते हैं। इनमें नकारात्मक सम्भावनाएँ हैं। इनमें बदलाव की जरूरत जरूर लगती है। रक्तसम्बन्ध एक वास्तविकता है। हाँ इसमें संकीर्णता की प्रवृत्तियों की सम्भावनाएँ भी हैं। रक्तसम्बन्ध-आधारित परिवारों की समूहबद्धता, सघन क्षेत्रीयता भी स्वभाविक है। जाति, गोत्र आदि की श्रेष्ठता-हीनता, विषमता के मूल्य इनकी सघनता को ज्यादा सघन और तीव्र बनाते हैं। किन्तु ये मूल्य गाँव की उत्पत्ति नहीं। यानी गाँव होगा तो जाति होगी ही, विषमता होगी ही, गाँव जितना टूटेगा; जाति और विषमता उतनी टूटेगी- ऐसी अनिवार्यता का रिश्ता नहीं। जाति और विषमता शहरों का भी सच है। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि जाति और विषमता केन्द्रित सत्ता, राज्य सत्ता प्रेरित एवं आरोपित है यानी राज्य की राजधानी नगर के आरोपण से स्थापित हुई है। गाँव में, हरेक गाँव में अलग-अलग जातीय पद्धतियों की उत्पत्ति नहीं हुई है। यानी जाति और विषमता ग्राम पर आरोपित या ऊपर के प्रचलित प्रतिमान की पारिस्थितिक स्वीकृति है। एक जगह पर लम्बे समय तक रहने से दिखने वाली स्थिरता या गतिहीनता भी खुद में गलत नहीं, नकारात्मक नहीं। हर क्षण परिवर्तन कोई आदर्श प्रतिमान तो नहीं? और नैसर्गिक परिवर्तन तो गाँव में भी चालित होता रहता है।

आरोपण या नागवार गुजरने वाले हस्तक्षेप के हद तक की पारस्परिकता या अन्तर्क्रियाशीलता, सरोकार के नाम पर अनावश्यक घुसपैठ गाँव के अस्तित्व का एक अनिवार्य घटक लगता है। किन्तु एक तो यह अनिवार्य नहीं। यानी हस्तक्षेप, आरोपण या अनावश्यक घुसपैठ को समाप्त करना नामुमकिन नहीं है। एक तो यह वैयक्तिक स्वतन्त्रता और लोकतान्त्रिक सम्बधों की दृष्टि और संस्कृति न होने के

कारण है। दूसरे यह सामाजिक नकारात्मकताओं के विरोध में संगठित सामूहिक और निजी प्रतिकार के न होने के कारण है। अनावश्यक हस्तक्षेप/आरोपण से मुक्त स्वस्थ सामूहिकता निर्मित करना सम्भव है और वह गाँव जैसे अन्तरंग, सुपरिचित प्रत्यक्षता में ज्यादा सम्भव है। ऐसा भी नहीं है कि आरोपण के खत्म हो जाने से गाँव की पहचान खत्म हो जाएगी या कुछ कम हो जाएगी।

आर्थिक गतिविधियों की अपरिहार्यता और प्रासंगिकता की कसौटी पर कसकर देखने से यह समझा जा सकता है कि कृषि एवं पशुपालन की अपरिहार्यता और प्राथमिकता उद्योगों और सेवा क्षेत्र से ज्यादा है। मानवीय जीवन के आरम्भ से लेकर सुदूर, अपरिभाषित, अनुमानातीत भविष्य में भी इसके होने की जरूरत है। क्योंकि यह भोजन जैसे मानव की भौतिक जीवन की प्राथमिक जरूरत को पूरा करने की गतिविधि है। प्राकृतिक परिवेश की मानव-निर्मित कृत्रिम परिवेश के ऊपर प्रधानता भी आवश्यक है– पानी, पेड़, हवा, रोशनी, खनिज और तमाम प्राकृतिक संसाधन जीवन/जीवों के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। कोई सोच सकता है, कह सकता है कि दोनों अपरिहार्यताएँ तो गाँव के न होने पर भी, गाँव के खत्म होने पर भी सम्भव है। खेती और प्रकृति गाँव के न रहने पर भी हो सकती है। क्या यह सचमुच सम्भव है, वांछनीय रूप से सम्भव है? सम्भावनाओं के विविध रूपों की कल्पना कर उसकी वांछनीयता की जाँच-परख करने की एक लम्बी विमर्श-शृंखला इस पर चलायी जा सकती है। गाँव-विहीन खेती और प्रकृति का एकमात्र अर्थ यह बनता है कि खेती के क्षेत्र, प्रकृति के निकटस्थ कोई मानव-बस्ती नहीं होगी। वह एक विराट फॉर्म और वन-क्षेत्र होगा, जिसमें मशीनों और दूर से आनेवाले या क्वार्टर/कॉलोनीनुमा जगहों पर रहने वाले मजदूरों को लगाकर खेती का काम कराया जाता होगा। मनुष्य की जीविका के मामले में यथासम्भव आत्मनिर्भरता, मानवीय गरिमा, स्वायत्त और स्वतन्त्र श्रम, यथासम्भव समता और स्वतन्त्रता, प्रत्यक्ष एवं जीवन्त लोकतान्त्रिक स्वरूपों की यथासम्भव गुंजाइश, आपसी सरोकारों या मानवीय संवेदनाओं की सक्रियता की गुंजाइश जैसी आकांक्षाओं पर क्या उपरोक्त व्यवस्था वांछनीय होगी? कतई नहीं।

आज की दुनिया पर नजर दौड़ाने से यह दिखता है कि कुछ इलाके, कुछ देश ऐसे हैं जहाँ खेती और खुली प्रकृति बेहद कम या नहीं के बराबर है। किन्तु इसकी तार्किक निष्पत्ति यह नहीं हो सकती कि पूरी दुनिया से खेती और प्रकृति को मिटाना सम्भव ही नहीं, अपरिहार्य भी है। वैसे देश भी दूसरे देशों के कृषि-उत्पादों और प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर हैं। मानव-निर्मित कृत्रिमता से परिपूर्ण शहरों और देशों में भी ऐसे नवाचार दिखते हैं जो ग्रामत्व की अनिवार्यता का ही इशारा करते हैं। छतों पर खेती जैसे अपने परिवेश में खेती और प्रकृति विकसित करने की कोशिशें यह

बताती हैं खेती की दिशा में आत्मनिर्भरता, प्राकृतिक परिवेश का विस्तार महत्वपूर्ण है।

अगर दीर्घकालिक और आत्मनिर्भर आर्थिक उत्पादन-पद्धति और जीवन-पद्धति चाहिए, प्रकृति/पर्यावरण की सुरक्षा चाहिए तो विकेन्द्रित और सामूहिक कृषि-प्रधानता आधारित प्रकृति-प्रधान परिवेश की दिशा में बढ़ना होगा (यानी पुराने सकारात्मक तत्वों के आधार पर नयी रचना करनी होगी, अतीत की ओर या पीछे जाने की बात यहाँ नहीं की जा रही)। अगर लोकतन्त्र का निरन्तर विकास चाहिए, प्रत्यक्ष जननिर्णय की गतिविधियों की अनिवार्य उपस्थिति और उनका निरन्तर विस्तार चाहिए तो आत्मनिर्भर, मानवीय गरिमा से लैस, स्वायत्त मनुष्यों की अन्तरंग पारस्परिकता या सुपरिचित प्रत्यक्षता वाले मानवीय वासों/सहअस्तित्व केन्द्रों की बहुलता आवश्यक होगी। ऐसी संरचना बड़े शहरों, उद्योग नगरों, सता-केन्द्रों के नगरों में सम्भव नहीं होगा। शहरों को टूटना-बिखरना होगा। सृजन और स्वशासन की जीवन्त प्रक्रियाओं से पुराने गाँवों को निखरना होगा और नये गाँवों को बनना होगा।

अर्थात गाँवों का अन्त नियति नहीं है। गाँव ही सुनिश्चित सुन्दर भविष्य की अनिवार्यता है। ग्राम-सभा, पंचायती राज संस्थाओं के बारे में हम तात्कालिक रूप से नहीं सोच रहे। एक मरणशील, क्षरणशील गाँव के कष्टहीन मौत के उपाय हम नहीं कर रहे। गाँव की बुनियादी रचना में जो सकारात्मक तत्व हैं उन्हें जगाकर, पारम्परिक नकारात्मकता को नकार कर और नये-नये विकासशील तत्वों को जोड़कर हम गाँव को नये भविष्य की निर्णायक नींव बनाना चाहते हैं। और इसी के माध्यम के रूप में गाँवों के स्वशासन, गाँव की निर्णायकता, पंचायती राज संस्थाओं की प्रभावशीलता के प्रश्न को हम ले रहे हैं।

●

स्वशासन की आभासी समझ और सच्ची समझ

पंचायती राज संस्थानों का जब भी जिक्र आता है, उसके पीछे की बुनियादी प्रेरणा या अवधारणा के बतौर स्वशासन की बात भी अक्सर साथ ही आती है। झारखण्ड जैसे आदिवासी-प्रधान पहचान वाले अंचलों के सन्दर्भ में पंचायती संस्थानों की बातचीत के वक्त यहाँ की स्वशासन की परम्पराओं, आज भी उनके कमोबेश जीवन्त वजूद, अंग्रेजी शासन के दरम्यान भी उनकी स्वशासन-परम्परा की स्वीकृति के रूप में बने नियम-निर्देश, भारत के संविधान में मौजूद स्वशासन-संरक्षण के प्रावधानों का प्रसंग भी जुड़ जाता है। एक स्वयंसिद्ध या सर्वमान्य-सी समझ झारखण्ड खासकर झारखण्ड के अनुसूचित क्षेत्रों के बारे में है कि यहाँ के जनमानस में स्वशासन की आकांक्षा जिन्दा है और वह जूझते हुए स्वशासन का निरन्तर फैलाव चाहती है।

स्वशासन की अवधारणा के दायरे को समझना भी पंचायती राज संस्थानों के साथ झारखण्डी जनमानस के सम्बन्धों, प्रतिसादशीलता को समझने के लिए उपयोगी है। नारों में जब बात होती है तो अक्सर यह कहा जाता है कि जल, जंगल, जमीन– तमाम प्राकृतिक संसाधनों पर समुदाय का अधिकार रहा है। उस अधिकार को छीना गया है, उसे वापस लाना है। परम्पराओं और वैधानिक-संवैधानिक प्रावधानों का हवाला जब दिया जाता है तो जनजातीय समुदायों की स्वशासन परम्पराओं, विलकिंसन रूल, संविधान की पाँचवीं अनुसूची का जिक्र होता है। परम्पराओं और प्रावधानों के माध्यम से हमें क्या हासिल है, वह स्वशासन का कैसा परिवेश देता है– इसे समझना है। इन दिनों भूरिया कमिटी की अनुशंसा और केन्द्र-सरकार द्वारा पारित पेसा का भी हवाला आता है। इन्हें आदर्श प्रतिमान के रूप में लेने-मानने की मानसिकता बड़े पैमाने पर दिखती है। इनमें सुधार या जोड़-घटाव के प्रस्ताव भी गिने-चुने ही आये हैं। और जो आये हैं– वे भी मुहिम की मुख्यधारा की ओर से पेश नहीं हुए हैं। बढ़ा-चढ़ाकर कहने से बचने की कोशिश करें, तब भी इतना कहा जा सकता है कि उपरोक्त चलनों और प्रावधानों में शामिल बातें बहुतों के मन में स्वशासन के मानक प्रतिमान गढ़ती हैं।

जनान्दोलनों/अभियानों के एक अच्छे-खासे हिस्से में बिना कानूनों को पढ़े, बिना जाँचे-परखे कुछ बयानों को तथ्य, सिर्फ सामान्य/सामाजिक तथ्य ही नहीं,

कानूनी और संवैधानिक प्रावधान के रूप में बताने की प्रवृति चलन में है। विरोध के बाद भी तथ्य की प्रामाणिकता जाँचे बिना इसे बार-बार बताया जाता है। यह रूझान झारखण्ड के स्वशासन-आन्दोलन में भी है।

एक और कारण से स्वशासन को पूरे सन्दर्भ में आँकना, जाँचना-परखना जरूरी है। हमारे शासक, राजनेता, राजनैतिक बुद्धिजीवी और आन्दोलनकारी शासन और स्वशासन दोनों शब्दावलियों का हवाला देते हैं। दोनों का आपस का क्या कुछ रिश्ता है, कितना-कैसा रिश्ता है- इसकी बात साफ-साफ शायद ही होती है। स्वशासन शासन की स्थापित परम्परा, शासन के प्रचलित तन्त्र में कोई बड़ी और महत्वपूर्ण कटौती नहीं करता नहीं दिखता। स्वशासन शासन की ओर से नीचे की इकाइयों को कुछ शासन-तत्वों का ऐसा अंशदान दिखता है, जिससे शासक और शासित के रिश्ते में कोई फर्क नहीं पड़ता। तब भी स्वशासन और शासन के बीच के रिश्ते को परिभाषित करने की खास कोशिश नहीं होती।

स्वशासन के बढ़ने का अर्थ है शासन का घटना– स्वशासन लगातार बढ़ता जाए, शासन लगातार घटता जाए– प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के हर सम्भव आयाम सधते जाएँ। बस अनिवार्य सन्दर्भों में (जो प्रत्यक्ष स्वशासन के जरिये सम्भव नहीं) प्रातिनिधिक लोकतन्त्र और गैरनिर्वाचित मशीनरियाँ रह जाएँ। इस दिशा में बातें कभी बढ़ती नहीं। यानी आज की सरकारी शब्दावली में स्वशासन का सिर्फ सांकेतिक सन्दर्भ है। सीमित स्थानीय शासन या स्थानीय स्तर पर सार्वजनिक गतिविधियों को संचालित करने, कुछ सीमित एवं निर्धारित भूमिकाओं को कार्यान्वित करने के लिए बनाये गये निर्वाचन-आधारित निकायों को दिया गया सुन्दर-मोहक नाम है– स्वशासन की संस्थाएँ।

अगर माँगने-चाहने वाले के मन में भी ऐसी ही छवि है, तब तो असन्तुष्टि की कोई खास बात नहीं, बस छोटी-मोटी शिकायतें हो सकती हैं। तब तो स्वशासन हमें मिल गया। अगर दूसरी, दूर की, बड़ी छवि है तो जन-पहल और मुहिम की जरूरत बनती है।

कुछ आदिवासी समुदायों की पारम्परिक व्यवस्था

पहले आदिवासी समुदायों की स्वशासन-व्यवस्था पर एक निगाह डालें। यहाँ यह समझ लेने की जरूरत है कि ये ऐसी स्वशासन व्यवस्थाएँ नहीं हैं जो किसी गाँव या अंचल के तमाम आदिवासी समुदायों पर लागू होने वाली हैं, तमाम समुदायों में प्रचलित और स्वीकृत हैं। ये किसी गाँव के सारे समुदायों पर भी लागू होने वाली व्यवस्थाएँ नहीं हैं। ये एक खास समुदाय की आन्तरिक संचालन-पद्धति हैं, जो गाँव की इकाई से शुरू होकर ग्राम समूहों की उच्चतर इकाइयों तक जाती हैं। एक

समुदाय की पूरी आबादी या वर्चस्वशील बहुलता वाले टोलों-गाँवों की बहुलता के कारण ये निर्विघ्न चलते रहे हैं। मिश्रित आबादी बढ़ने के कारण जटिलताएँ आयी हैं। और स्वशासन की परम्पराओं पर संकट और क्षरण भी बना है।

सन्थालों की पारम्परिक स्वशासन-व्यवस्था का जो विवरण दिया जाता है, उसमें गाँव स्तर पर विभिन्न कार्यों की भूमिका निभाने वाले प्रभारी होते हैं और गाँव के बाद उसके ऊपर ग्राम-समूहों की एक आरोहणशील शृंखला होती है। प्रभार-व्यवस्था में गाँव-गाँव में अधिकांशत: समानता होने के बाद भी कुछ फर्क हो सकता है। सारे प्रभार सारे गाँव में हों– यह जरूरी नहीं होता।

हर गाँव में व्यक्तिगत प्रभार के पद हैं: मांझी, प्रानीक, गोड़ाइत, जोग मांझी, जोग प्रानीक, लासेर टैंगोय, नायके, कुड़ाम नायके, सुसारिया।

मांझी गाँव का कुल नेतृत्व करता है, बाहर में गाँव का प्रतिनिधित्व करता है। न्यायिक, प्रशासनिक कार्यों में नेतृत्व करता है। लगान लेने की भूमिका मांझी की रही है। प्रानीक उप-मांझी है। वह मांझी की अनुपस्थिति में मांझी की सारी भूमिका निभाने का हकदार है। इसके अलावे एक विशेष जिम्मा प्रानीक का है। किसी अपराध के मामले में सजा सुनाने का जिम्मा।

गोड़ाइत मांझी के सचिव की भूमिका निभाता है। बैठक की सूचना ग्रामीणों को देना, पूजा-पाठ में खजांची का काम करना, पर्व-त्योहारों की सूचना देना, गाँव के परिवारों और जनसंख्या की जानकारी रखना गोड़ाइत का काम है। जोग मांझी मांझी का दूसरा सचिव या उपसचिव है। इसका विशेष कार्य शादी-विवाह का हिसाब-किताब रखना और शादी-विवाह के अवसर पर युवा गतिविधियों का नेतृत्व करना तथा शादी-विवाह के विवादों का फैसला करना है। जोग-प्रानीक उप-जोग मांझी है, अर्थात जोग-मांझी की अनुपस्थिति में उसकी भूमिकाओं को निभाता है।

लासेर टैंगोय बाहरी हमलों से गाँव की सुरक्षा को संगठित करता है और नेतृत्व प्रदान करता है।

नायके गाँव का धार्मिक पूजा-पाठ सम्पन्न करता है, खासकर गाँव के अन्दर के देवी-देवताओं का पूजा-पाठ करता है और धार्मिक अपराधों के मामले में अपना फैसला सुनाता है। कुड़ाम नायके उप नायके है। गाँव के बाहर के देवी-देवताओं की पूजा करता है।

सुसारिया सभा को सुचारु रूप से चलाने का काम करता है। यह प्रभार सभी क्षेत्रों में देखने को नहीं मिलता।

कालान्तर में एक प्रभार इस परम्परा से जुड़ गया है जो मूलत: पारम्परिक नहीं

है– वह है चौकीदार का प्रभार। माँझी के आदेश से बदमाश को पकड़ने का काम चौकीदार करता है।

इसके अलावे कुछ समूह भी परम्परा में हैं। एक है–भग्दो प्रजा, दूसरा माँझी मोड़े-होड़। भग्दो प्रजा गाँव के कुछ सज्जनों के लिए सामूहिक नाम है जो गाँव के मामलों के विचार-विमर्श में रहते हैं, इसमें हर टोले में ऐसे एक-दो लोग हो सकते हैं। माँझी मोड़े-होड़ पंचों की समिति है। जिनका वर्ष में एक बार पुन: चयन होता है। इस समिति के प्रमुख माँझी होते हैं पर फैसला समिति सामूहिक रूप से करती है।

माँझी श्रृंखला में गाँव माँझी के ऊपर देश माँझी या मोड़े माँझी होते हैं। पाँच से आठ गाँवों के माँझिओं के समूह को देश माँझी कहा जाता है। इसके ऊपर परगनैत होता है– 15-20 गाँवों के माँझिओं के प्रधान को परगनैत कहते हैं। परगनैत के ऊपर एक दिशुम परगना होते हैं।

यह व्यवस्था समाज के मामलों को निपटाने का ही कार्य प्रमुख रूप से करती है। विवादों को सुलझाने के लिए दो वार्षिक आयोजनों का भी इस्तेमाल होता है। परगना महाल में निपट न सके मामलों को शिकार पहाड़ पर कई परगनाओं की उपस्थिति में निपटाया जाता है। और वहाँ भी फैसला न होने पर अन्तिम फैसला पुरूलिया के पास स्थित अयोध्या पहाड़ पर होने वाले लोबीर सेन्दरा के वक्त होता है।

अंगरेजों के द्वारा गाँव के लगान-वसूली तथा ग्रामीण-पुलिस प्रशासन में, विवाद-निपटारे में माँझी-व्यवस्था को समय-समय पर सरकारी मान्यता दी गयी थी। इन प्रावधानों में परिवर्तन भी होता रहा है। बाद के दौर में पुलिस और न्यायिक भूमिकाओं को हटा लिया गया।

हो आदिवासी समुदाय में गाँव की व्यवस्था में मुंडा प्रधान होता है, ग्राम का नेतृत्व करता है। मुंडा के पास ग्राम-स्तर पर प्रशासनिक, न्यायिक और लगान लेने की भूमिका होती है। डाकुआ मुंडा का अधीनस्थ कर्मचारी होता है। डाकुआ के माध्यम से ही मुंडा ग्रामीणों को सूचना भिजवाता है। दिउरी गाँव के सामाजिक-धार्मिक पर्व-त्योहारों में पूजा-पाठ करते हैं और धार्मिक अपराध से आरोपित व्यक्ति का दण्ड तय करते हैं। यात्रा दिउरी भी दिउरी के सहकर्ता की भूमिका में होते हैं।

समुदाय की नेतृत्व श्रृंखला की व्यवस्था में अनेक गाँवों को मिलाकर एक पीड़ बना होता है, पीड़ का प्रमुख मानकी होता है। कई मुंडाओं के उपर एक मानकी होते हैं। उसके ऊपर/आगे तीन मानकियों की एक समिति होती है जिसे "तीन मानकी" कहा जाता है। अगर कोई विवाद गाँव के मुंडा द्वारा नहीं सुलझता तो उसे मानकी के पास पेश किया जाता है। मानकी का सहयोगी तहसीलदार होता है। मानकी तहसीलदार के माध्यम से मुंडाओं से मालगुजारी वसूलता है। जब कोई मामला

मानकी के द्वारा भी नहीं सुलझता तो तीन मानकियों की समिति बनाकर उसे सुलझाने का प्रयास होता है। ''तीन मानकी'' का फैसला अन्तिम माना जाता है।

समुदायों की स्वशासन-व्यवस्था की एक झलक यहाँ आ गयी है। इस विवरण से यह पता चलता है कि समुदाय की अपनी सामाजिक-धार्मिक गतिविधियों के आयोजन, आपसी विवादों और समय-समय पर उभरनेवाले मसलों के निपटारों, गाँव से लगान-वसूली तथा जरूरत पड़ने पर अपराध की रोकथाम के लिए पुलिस-प्रशासन की ग्राम-स्तरीय भूमिका में ही यह व्यवस्था सीमित थी, सक्रिय थी। अधिकांश भूमिकाएँ ग्राम केन्द्रित थीं। सिर्फ समुदाय के लोगों के बीच के असमाधित प्रश्नों/विवादों के निपटारे और सेन्दरा (वार्षिक शिकार) जैसी गतिविधियों में ही गाँवों की सामूहिक भागीदारी होती थी। वसूली और पुलिस की भूमिका तो सीमित सन्दर्भों में बाहरी शासन-तन्त्र द्वारा तालमेल/समायोजन के तहत या टकराहट को टालने के रूप में दी गयी लगती है। और वह भी बाहरी और आरोपणशील शासन की ओर झुकी थी। क्योंकि लगान वसूली और उसके खर्च तथा पुलिस मशीनरी का ऊपरी और निर्णायक ढाँचा समुदाय के स्वशासन व्यवस्था से बाहर के शासन-तन्त्र में सन्निहित था। विविध समुदायों के बीच अन्तर्क्रियाशील या समुदाय-निरपेक्ष क्षेत्रीय स्वशासन की व्यवस्था के रूप में विकसित होने की स्पष्ट या धुंधली प्रक्रिया भी नहीं दिखती। कम से कम विविध सहजीवी एकग्रामी आदिवासी समुदायों के बीच भी स्वशासन की कोई सामान्य व्यवस्था विकसित होने की कोई कोशिश दिख सकती तो नयी भावी स्वशासन-संरचना के निर्माण की कोई आदिवासी-पहल आगे बढ़ने की उम्मीद बनती।

विलकिंसन रूल्स

कोल्हान क्षेत्र में आज के पश्चिमी सिंहभूम जिले की स्वशासन-विरासत के कानूनी/शासकीय स्तम्भ के रूप में विलकिंसन रूल्स का जिक्र बड़े सकारात्मक प्रावधान के रूप में होता है।

विलकिंसन रूल्स–नियमों का एक संकलन है जिसे 1833 XIII रेगुलेशन के अन्तर्गत नियम-कानून का शीर्षक दिया गया। इसके साथ उद्देश्य की संक्षिप्त घोषणा में इसे गर्वनर जनरल के एजेण्ट के मातहत पड़ने वाले क्षेत्रों में लोकन्याय मुहैया कराने के लिए रेगुलेशन बताया गया है। इसमें 31 नियम हैं। लगभग सारे नियम व्यक्तिगत अथवा स्थायी सम्पत्ति से सम्बन्धित दीवानी मुकदमों के निपटारे की प्रक्रियाओं एवं अन्य दिशानिर्देशों से सम्बन्धित हैं। मुंडा और मानकी के पदों या प्रभार के सन्दर्भ में, ग्राम-स्वशासन के सन्दर्भ में, हो समाज की पारम्परिक व्यवस्था के सन्दर्भ में इन 31 नियमों में कुछ नहीं कहा गया है।

पहला नियम तीन सौ रुपये के मूल्य तक के मुकदमे में मुंसिफ या मुंसिफी का अधिकार प्राप्त व्यक्तिगत या ग्रामीण मुखिया को निर्णयाधिकार देता है। पर कचहरी के कर्मचारियों, युरोपियन और अमेरिकी पार्टी के मुकदमों को इन निर्णयाधिकारों से बाहर रखा गया है। करमुक्त सम्पत्ति को भी अलग रखा गया है। नियम 7 में मालगुजारी आदि के शिकायत साधारण कागज (स्टाम्प रहित) पर लेने और अदालत द्वारा फैसला किये जाने की बात है। अदालत का फैसला नामंजूर होने पर एजेण्ट के अदालत में अपील की स्वतन्त्रता दी गयी है। नियम 8 कहता है कि अदालत में हाजिर होने की अदालती नोटिस अदालत के जमादार के जरिये गाँव के मुंडा या जागीर के प्रधान के द्वारा तामिल होगी। नियम 11 में गवाहों को गाँव के मुंडा या जागीर के प्रधान के माध्यम से हाजिरी के लिए बुलाने का प्रावधान है। नियम 20 कहता है कि वाद-पत्र, प्रतिवादी का जवाब मिलने के बाद केस को एक चुने गये पंचायत के हवाले किया जा सकता है। पंचों पर आपत्ति उठने पर अन्य पंच नियुक्त होंगे। सरकारी मुहर्रिर कार्यवाही और निर्णय का लेखा-जोखा रखेगा। पंच हस्ताक्षर के साथ निर्णय देंगे। पंचों के निर्णय के आधार पर ही अदालत फैसला देगी, जिसके विरुद्ध अपील नहीं की जा सकेगी। अपील या इनकार तभी सम्भव होगा जब न्यायादेश स्थानीय रीति-विधि के खिलाफ हो या गर्वनर जनरल द्वारा प्रतिपादित किसी कानून का उल्लंघन करता हो। नियम 21 के अनुसार दो गाँवों के बीच सीमारेखा को लेकर विवाद होने पर निकटवर्त्ती गाँवों के जाने-माने प्रमुख व्यक्तियों की पंचायत बनायी जाएगी, जो विवाद की जगह पर जाकर जाँच-पड़ताल की कार्यवाही पूरी कर स्थायी सीमा-निशान बैठा देगी। नियम 22 में पंचायतों के बारे में नजरिया रखा गया है। जनता को शीघ्र न्याय दिलाना पंचायतों को मामला सुपुर्द करने का ध्येय है। पंचायत के व्यक्ति सबके हित में काम करने के लिए कटिबद्ध हों, पंचों के चयन के समय ख्याल हो कि किसी को कोई असुविधा न हो। नियम 24 के अनुसार इस बात पर जोर हो कि जनसाधारण अपनी ही ग्राम-पंचायतों में निपटारा कर लें और अदालत में जाने से बचने की कोशिश करें। नियम 25 के मुताबिक किसी भी मामले में किसी भी चरण में पार्टियाँ रजामन्दी से समझौता कर सकती हैं-- गवाहों के बयान और जिरह के पहले सुलह होने पर अदालती फीस वापस की जा सकती है। नियम 26 के मुताबिक पार्टियाँ अपना केस स्वयं या निर्धारित प्रतिनिधियों के द्वारा लड़ सकती हैं। नियम 27 इस उद्देश्य की घोषणा करता है कि बपौती या स्वअर्जित भूमि बिक्री, हस्तांतरण, बन्धक गिरवी से बची रहे। वकीलों और मुख्तारों के कुचक्र से जनसाधारण को बेकार की मुकदमेबाजी से बचाने के लिए यह नियम तय किया गया है। गवर्नर जनरल के एजेण्ट की

अनुमति के बिना भूसम्पत्ति की किसी प्रकार की बिक्री, हस्तान्तरण, नीलामी या बन्धक, मालगुजारी अदायगी या अन्य किसी कारण से गैरकानूनी माना जाएगा। भूमि के मालिक यदि अपनी इच्छा से ऐसा करना भी चाहें तो उनकी सन्तानों द्वारा अपनी जमीन की वापसी के लिए खूनखराबा न होने पाए (यही इस नियम की इच्छा लगती है)। नियम 28 के अनुसार राजाओं, जागीरदारों, जमींदारों अथवा अन्य भूपति के पूर्वजों के जमाने से अधिकार वाली सम्पत्ति की बिक्री,हस्तान्तरण या गिरवी आदि की स्वीकृति पर साधारणत: प्रतिबन्ध लगा रहेगा। नियम 30 के अनुसार छोटे या बड़े भूसम्पत्ति के उत्तराधिकार विवाद के मामले के फैसले से अगर लोक शान्ति को खतरा हो तो एजेण्ट फैसला देने से पहले गवर्नर जनरल और कौंसिल से सलाह-मशविरा करेंगे। और अन्तिम नियम लोक-न्याय के प्रशासन में कुछ मुद्दा छूटने पर अदालतों द्वारा एजेण्ट की मदद लेने की बात कहता है और अगर एजेण्ट को निर्देशन की आवश्यकता हो तब गवर्नर जनरल और कौंसिल को सूचना देने और अपेक्षित निर्देश प्राप्त होने तक निर्णयों पर रोक लगाने की बात कहता है।

यहाँ ध्यान देकर उन नियमों को रखा गया है जो जनता के लिए कहीं-न-कहीं अनुकूलता रखते हैं। इन नियमों में लोकशान्ति रखने, अशान्ति/विद्रोह से बचने की मानसिकता साफ-साफ दिखती है। शब्दों में भी बयान होती है। भूमि-सम्बन्धों में कोई बड़ा फेरबदल न हो, अदालती प्रक्रिया से जनसाधारण का गुस्सा और तकलीफ न बढ़े, यह भाव भी है। मुंडाओं को भी जागीरदारों और मुंसिफों जैसी प्रतिष्ठा या न्यायिक मध्यस्थ की भूमिका दी गयी है। पर अन्तत: सारा अधिकार गवर्नर जनरल, उसके कौंसिल और एजेण्ट में ही निहित है। प्रशासनिक लोग, अंगरेज और अमेरिकी विशेष रूप से संरक्षित हैं।

किसी समुदाय की स्वशासन-व्यवस्था से रिश्ता रखती इतनी-सी बात एक जगह है कि रीति-रिवाज के खिलाफ जाते न्यायादेश के खिलाफ अपील की जा सकती है, सुनी जा सकती है। आन्तरिक विवादों में नहीं पड़ने और गाँव का विवाद गाँव में सुलझाने की सदिच्छा भी जाहिर हुई है। पर सम्पूर्ण न्यायिक व्यवस्था को विकेन्द्रित करने की कोई मंशा नहीं, क्योंकि सारे प्रावधान न्यायिक प्रक्रिया को निर्धारित करते हैं। बुनियादी न्यायिक शक्ति गाँव या किसी समुदाय की ग्रामीण इकाई को देने की कोई पद्धति नहीं बनायी गयी है और सर्वोच्च शक्ति विशेष स्थिति में गवर्नर जनरल और सामान्य स्थिति में उनके एजेण्ट के हाथ केन्द्रित है। इन नियमों के कारण गाँवों में हस्तक्षेप हतोत्साहित हुआ और ग्रामों में अपनी पारम्परिक जीवन-पद्धति को बरकरार रखने का कमोबेश अवसर मिला, इतना कहा जा सकता है।

पाँचवी अनुसूची

अब इसके बाद आगे बढ़ते हुए हम आजाद भारत के आदिवासी-बहुल या आदिवासी-प्रधान क्षेत्रों के रूप में चिह्नित पाँचवी अनुसूची के प्रावधानों को देखें, जिनमें झारखण्ड का भी बड़ा हिस्सा शामिल है। पाँचवीं अनुसूची [आर्टिकल 244 (1)] अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जनजातियों के प्रशासन और नियन्त्रण से सम्बन्धित प्रावधानों का प्रबन्ध करता है। इसके तीन हिस्से हैं। पहला और चौथा हिस्सा दूसरे हिस्से की तुलना में अतिसंक्षिप्त है। पहला हिस्सा कुछ सामान्य बातें कहता है। और चौथा अन्तिम हिस्सा अनुसूची के संशोधन के सन्दर्भ में है।

पहले हिस्से की उल्लेखनीय बात यह है कि अनुसूचित क्षेत्र वाले प्रत्येक प्रान्त का राज्यपाल वर्ष में अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को रिपोर्ट देगा और संघ की कार्यपालिका उक्त क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में निर्देश दे सकेगी। दूसरे हिस्से में प्रशासन और नियन्त्रण सम्बन्धी बातें हैं। ऐसे हर प्रान्त में, जिसमें अनुसूचित क्षेत्र है और ऐसे राज्य में भी जहाँ अनुसूचित क्षेत्र नहीं है, पर अनुसूचित जनजातियाँ हैं, वहाँ राष्ट्रपति अगर निर्देश दे तो एक जनजाति सलाहकार-परिषद स्थापित की जाएगी। इसमें ज्यादा से ज्यादा बीस सदस्य होंगे। इन कुल सदस्यों का तीन-चौथाई उस प्रान्त की विधानसभा के अनुसूचित जनजाति प्रतिनिधि होंगे। अगर जनजातीय विधायकों की संख्या इस अपेक्षित संख्या से कम है तो बाकी स्थान पर उन जनजातियों के अन्य सदस्य रखे जाएँगे।

जनजाति सलाहकार-परिषद को राज्यपाल द्वारा निर्दिष्ट अनुसूचित जनजातियों के कल्याण और उन्नति से सम्बन्धित विषयों पर सलाह देने का दायित्व या जिम्मा होगा।

राज्यपाल बैठकों के संचालन और उसकी प्रक्रिया, परिषद के सदस्यों की संख्या, सदस्यों की नियुक्ति की रीति एवं समय-समय पर आनेवाले अन्य विषयों के बारे में नियम बना सकता है।

इस अनुसूची के तहत राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि संविधान में किसी बात के होने पर भी किसी विशिष्ट अधिनियम के लागू न होने या कुछ अपवादों या उपान्तरणों के साथ लागू होने का निर्देश जारी कर सकता है। इसके लिए राज्यपाल को स्पष्ट अपेक्षित जिक्र के साथ लोक अधिसूचना (public notification) के जरिये निदेश देना होगा। ये निदेश उस प्रान्त के पूरे अनुसूचित क्षेत्र के लिए भी हो सकते हैं। भूतलक्षी प्रभाव (यानी जारी करने की तारीख से पहले से लागू) वाले निदेश भी दिये जा सकते हैं। राज्यपाल को अनुसूचित क्षेत्र के शान्ति और सुशासन के लिए विनियम (रेगुलेशन) बनाने का अधिकार है। इसके

विनियमन के कुछ हिस्से को और ज्यादा स्पष्ट रूप में चिह्नित किया गया है। राज्यपाल ऐसे क्षेत्र के अनुसूचित जनजातियों के द्वारा या अनुसूचित जनजातियों के बीच भूमि के अन्तरण (ट्रांसफर) को पूरी तरह रोक सकता है या बाधित/सीमित कर सकता है। ऐसे क्षेत्र के अनुसूचित जनजाति के सदस्यों को भूमि आवंटन का रेगुलेशन कर सकता है। अनुसूचित जनजाति के सदस्यों को धन उधार देने वाले साहुकारों के कारोबार को रेगुलेट (विनियमित) कर सकता है। इसके लिए जरूरी होने पर राज्यपाल उस क्षेत्र में लागू केन्द्रीय या प्रान्तीय कानून या किसी मौजूद विधि (लॉ) को समाप्त या संशोधित कर सकता है। राज्यपाल को अनुसूचित क्षेत्र में अनुसूचित जनजातियों के हितों के प्रतिकूल ठहरने वाले कानूनों को रोकने या बदलने का जो सशक्त अधिकार दिया गया है, उसे आगे के प्रावधानों के जरिये शर्तबन्द कर दिया गया है। राज्यपाल द्वारा ऐसा विनियम तभी बनाया जाएगा, जब राज्यपाल ने जनजाति सलाहकार परिषद (अगर है) से परामर्श कर लिया है। ऐसे बनाये गये विनियम राष्ट्रपति के पास पेश किये जाएँगे और राष्ट्रपति के अनुमति के बाद ही प्रभाव में आएँगे।

तीसरे हिस्से में अनुसूचित क्षेत्रों के निर्धारण, कटौती या बढ़ोतरी के बारे में बातें हैं। अनुसूचित क्षेत्र का अर्थ उन क्षेत्रों से है, जिसे राष्ट्रपति के आदेश द्वारा अनुसूचित क्षेत्र घोषित किया गया है। राष्ट्रपति आदेश के द्वारा पूरे अनुसूचित क्षेत्र को या उसके किसी भाग को अनुसूचित क्षेत्र के बाहर कर सकता है। प्रान्त के राज्यपाल के परामर्श से अनुसूचित क्षेत्र को बढ़ा सकता है। प्रान्तों की सीमा में परिवर्तन होने, संघ में नये प्रान्त के शामिल होने या नया प्रान्त बनने पर किसी प्रान्त में शामिल न रहे (यानी नये जुड़े) क्षेत्र को अनुसूचित क्षेत्र या उसका हिस्सा बना सकता है। अनुसूचित क्षेत्र खत्म करने, घटाने, बढ़ाने, नया घोषित करने के इन आदेशों को विखण्डित कर सकता है और राज्यपाल से परामर्श करके नये सिरे से अनुसूचित क्षेत्रों को निश्चित करने का आदेश दे सकता है। इन आदेशों के साथ तात्कालिक और पारिणामिक उपबन्ध (प्रावधान) शामिल रह सकते हैं।

चौथे हिस्से में अनुसूची के संशोधन की बातें हैं। संसद समय-समय पर विधि (लॉ) द्वारा इस अनुसूची में दर्ज किसी भी बात का परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन (समाप्ति) कर सकता है और वह संशोधित अनुसूची ही अनुसूची के रूप में मानी जाएगी। और अन्त में कहा गया है कि उपरोक्त संशोधन/सुधार संविधान का संशोधन नहीं माना जाएगा। [इसका अर्थ सम्भवत: यह है कि ऐसे संशोधन के लिए अनुच्छेद 368 के संविधान-संशोधन की प्रक्रिया की अनिवार्यताएँ लागू नहीं होंगी]।

पाँचवीं अनुसूची के प्रावधान संविधान में सूचीबद्ध आदिवासी क्षेत्रों के हितों के

संरक्षण के लिए हैं। विशेषकर कुछ प्रतिकूल ठहर रहे कानूनों के प्रभाव को रोकने की दिशा में सक्रिय हैं। किन्तु इसमें आदिवासी समाज के स्वर, आकांक्षा या माँगों को अवसर नहीं है, कोई औपचारिक या आमन्त्रक अवसर नहीं है। सारी शक्ति राज्यपाल में केन्द्रित है। और राज्यपाल की शक्ति केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद एवं राष्ट्रपति तथा प्रान्तीय विधानमण्डल और मन्त्रिपरिषद पर निर्भर होती है। सलाहकार परिषद बस बताये गये मामलों पर सलाह माँगने पर सलाह दे सकता है। सलाहकार परिषद में भी आदिवासी विधायकों की बहुतायत है। 15 विधायक (आदिवासी) संगठित हों, एकमत हों तो वे विधानसभा में सलाह से ज्यादा असरदार प्रभाव छोड़ सकते हैं। विधायकों की जगह ऐसे अन्य सक्षम आदिवासी प्रतिनिधियों का सलाहकार परिषद में होना ज्यादा उपयोगी होता, जो प्रतिबद्धता और बौद्धिकता के बावजूद चुनावी जटिलताओं या सत्ता-विमुखता जैसे कारणों से विधायक नहीं हैं। जनजातीय सलाहकार परिषद का तथा पाँचवीं अनुसूची का नेतृत्व और संचालन राज्यपाल करता है। सलाहकार परिषद की सदस्यता के लिए जनजातीय होने की अनिवार्यता है। पर संचालक के लिए जनजातीय समाज का सदस्य होने की अनिवार्यता नहीं। जिस प्रान्त का आधा से ज्यादा क्षेत्र अनुसूचित क्षेत्र हो, जहाँ की पचास फीसदी से बड़ी आबादी आदिवासियों की हो, वहाँ के लिए भी ऐसा कोई प्रावधान नहीं है। अगर आदिवासी हित के परामर्श के लिए आदिवासी होने की जरूरत है तो उस परामर्श के गम्भीर क्रियान्वयन के लिए क्यों नहीं? कोई राज्यपाल आदिवासियों की स्थिति के प्रति अज्ञानी, असंवेदनशील या कभी-कभी पूर्वाग्रही भी तो हो सकता है। अनुसूचित क्षेत्र वाले प्रान्तों में राज्यपाल की बहाली के लिए आदिवासी सामुदायिकता या आदिवासी संवेदनशीलता की कोई औपचारिक कसौटी तो रखी नहीं गयी है। झारखण्ड जैसे जगहों पर इस संस्थान की निष्क्रियता पूरी तरह जाहिर है। हमेशा सलाहकार-परिषद अस्तित्व में नहीं होती। सक्रिय नहीं होती। सलाह शायद ही माँगी जाती हो। झारखण्ड में अधिग्रहण कानून के अमल पर रोक का काम राज्यपाल कर सकते थे; खनन पर रोक लगा सकते थे (सारंडा जैसे क्षेत्रों में खासकर)। कोयलकारो, नेतरहाट परियोजना रद्द कर सकते थे। सी.एन.टी. एक्ट के न्यायिक जीत के मामलों में दखलदिहानी के आदेश दे सकते थे। ऐसा कुछ भी महत्वपूर्ण आदेश राज्यपाल ने नहीं दिया। पता नहीं, सलाहकार-परिषद ने ऐसी सलाह कभी दी या नहीं। उल्टे कुछ साल पहले जब रामदयाल मुंडा ने आदिवासी हितों के प्रति प्रतिबद्ध कुछ गैरआदिवासी बौद्धिकों को आमन्त्रित किया तो बहुत लोगों का, खासकर आदिवासी जनों का विरोध आया। राज्यपाल के गैर-आदिवासीपन से उन्हें तब भी ऐतराज नहीं हुआ। वह तो राजा है न! झारखण्ड में बिना विधान के राजनीति की आदिवासी-पक्षीयता के वर्चस्वशील माहौल के कारण मुख्यमन्त्री 14 साल से आदिवासी ही रहा है। यह तो पाँचवी अनुसूची

से ज्यादा आदिवासी-नेतृत्व वाली संरचना है। बिना संवैधानिक प्रावधान के ही ऐसा है। तब भी यह शासन कितना सामान्य आदिवासियों, ग्रामीण आदिवासियों, ग्रामों के पक्ष में है? इसका जवाब शासन और स्वशासन के बुनियादी फरक और स्वशासन की जरूरत की ओर संकेत करता है।

पेसा कानून

झारखण्ड के कई जुझारू और बौद्धिक रूप से भी समर्थ/शिक्षित नेता-कार्यकर्ता पाँचवी अनुसूची और पेसा कानून के हवाले से कहते हैं कि अनुसूचित क्षेत्र में इण्डस्ट्रीयल टाउनशिप और नगरपालिका/नगर निगम नहीं बनाया जा सकता है। पेसा कानून के जरिये ग्राम-सभा को गौण खनिजों, लघु वनोपजों का स्वामित्व और प्रबन्ध मिल गया है। पेसा कानून के बाद अनुसूचित क्षेत्र में ग्राम-सभा की अनुमति के बिना भूमि अधिग्रहण नहीं हो सकता। हमने देखा है कि पाँचवी अनुसूची में नगरपालिका बनाने की कोई मनाही नहीं है। 74वें संविधान संशोधन में ऐसी कोई बात है या नहीं– इसे देखा जा सकता है।

पेसा कानून के केन्द्रीय संस्करण की अपेक्षा प्रान्तीय संस्करण के प्रावधानों को हम आगे देखने जा रहे हैं। पेसा कानून सामान्य पंचायत कानून (73वाँ संशोधन) का विस्तार है यानी उन प्रावधानों के साथ कुछ नये प्रावधान जोड़े गये हैं।

73वें संशोधन के मुताबिक पंचायत-चुनाव के लिए राज्यपाल की सार्वजनिक अधिसूचना में निर्दिष्ट गाँव को गाँव माना जाएगा। यानी यह सम्भव है कि इस उद्देश्य के लिए राजस्व गाँव से इतर गाँव चिह्नित हो। 20 लाख से ज्यादा आबादी वाले प्रान्तों में तीन स्तरीय पंचायत होंगे। अर्थात वहाँ प्रखण्डों के स्तर के पंचायती निकायों की वैधानिक/प्रशासनिक अपरिहार्यता नहीं, जहाँ 20 लाख से कम की आबादी हो। पंचायत एवं जिला ही महत्वपूर्ण इकाई है। सभी सम-स्तरीय पंचायत इकाइयों की आबादी और प्रतिनिधित्व का अनुपात कमोबेश समान होगा। हर पंचायत में आनुपातिक आबादी के अनुसार अनुसूचित जाति एवं जनजाति का आरक्षण होगा– और इन आरक्षणों में न्यूनतम एक-तिहाई उस समुदाय की महिलाओं के लिए होगा। इसमें रोटेशन अपनाया जा सकता है। पंचायतों के विभिन्न स्तरों का अध्यक्ष पद भी अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और महिलाओं के लिए आरक्षित किया जाएगा। यह रोटेशन से होगा। महिलाओं के आरक्षण के अलावे अन्य दोनों आरक्षण आर्टिकल 334 में विहित अवधि तक रहेंगे। पिछड़े वर्गों के ऐसे आरक्षण पर रोक नहीं होगी। चुनाव सम्बन्धी एवं अन्य प्रान्तीय विधान के मुताबिक पंचायत-सदस्य को सदस्यता के अयोग्य ठहराया जा सकता है। [विधानसभा के चुनाव की उम्र योग्यता न्यूनतम 25 वर्ष और पंचायत-चुनाव की 21 वर्ष – यह फर्क अयोग्यता का कारण नहीं होगा।]

पंचायतों को शक्ति, प्राधिकार एवं उत्तरदायित्व के मामले में दो सन्दर्भों में स्वशासन के संस्थान के रूप में कार्य करने में सक्षमता दे सकने के लिए आवश्यक शक्तियों को देने का प्रान्तीय कानून बनाने की बात कही गयी है। वे दो कार्यक्षेत्र हैं– 1. आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के लिए योजनाएँ तैयार करना 2. 11वीं अनुसूची में दर्ज मामलों सहित उन्हें सौंपे गये आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय के स्कीमों को कार्यान्वित करना। वे 29 विषय हैं : 1. कृषि–कृषि विस्तार 2. भूमि विकास, भूमि–सुधार क्रियान्वयन, चकबन्दी, भूमि–संरक्षण 3. लघु सिंचाई, जल–प्रबन्ध, जल–विभाजक क्षेत्र विकास 4. पशुपालन, डेयरी–उद्योग, कुक्कुट–पालन 5. मत्स्य उद्योग 6. सामाजिक वानिकी, फार्म वानिकी 7. लघु वन उपज 8. लघु उद्योग (फुड प्रोसेसिंग भी) 9. खादी–ग्रामोद्योग, कुटीर उद्योग 10. ग्रामीण आवासन 11. पेयजल, 12. ईंधन, चारा 13. सड़कें, पुलिया, पुल, फेरी, जलमार्ग, अन्य संचार साधन 14. ग्रामीण विद्युत–वितरण 15. अपारम्परिक ऊर्जा–स्रोत 16. गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम 17. प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा 18. तकनीकी प्रशिक्षण, व्यावसायिक शिक्षा 19. प्रौढ़ एवं अनौपचारिक शिक्षा 20. पुस्तकालय 21. सांस्कृतिक क्रियाकलाप 22. बाजार और मेले 23. स्वास्थ्य, स्वच्छता, प्राथमिक स्वास्थ्य–केन्द्र, औषधालय 24. परिवार–कल्याण 25. महिला और बाल–विकास 26. समाज कल्याण–विकलांग–मानसिक मन्द कल्याण 27. कमजोर वर्ग, अनुसूचित जनजाति–जाति कल्याण 28. सार्वजनिक वितरण प्रणाली 29. सामुदायिक परिसम्पत्ति अनुरक्षण।

पंचायतों की कराधान–शक्ति और कोष/निधि के बारे में कहा गया है कि प्रान्तीय विधायिका कार्यवाही और सीमाओं के जिक्र के साथ टैक्सों, ड्युटियों, टॉलों और फीस लगाने, जमा/संग्रह करने और काम में लाने के लिए विधि द्वारा प्राधिकृत कर सकेगी। सरकार ऐसी वसूली–राशियों के लिए शर्तों और सीमाओं के साथ जिम्मा दे सकेगी। राज्य के समेकित (कॉनसॉलिडेटेड) फण्ड से सहायता अनुदान देने के उपाय कर सकेगी। पंचायत या उनकी ओर से जमा सभी धनों के लिए निधि का गठन और उस निधि से धन को निकालने के उपबन्ध बना सकेगी। पंचायतों की वित्तीय स्थिति के सम्बन्ध में आवश्यक सिद्धान्त और सिफारिशों के लिए राज्यपाल द्वारा हर पाँच वर्ष पर वित्त आयोग गठित होगा। आयोग की संरचना एवं आयोग के सदस्यों, आयोग की प्रक्रिया एवं शक्तियों के बारे में प्रान्तीय विधानमण्डल विधि बनाएगा। पंचायतों के खातों के ऑडिट के सन्दर्भ में भी विधानमण्डल विधि के जरिये उपबन्ध बना सकेगा।

अनुसूचित क्षेत्रों में पेसा कानून के तहत उपरोक्त भूमिकाओं के अतिरिक्त और कुछ अलग प्रावधान भी किये गये हैं। पंचायत के बारे में बनाये गये कानूनों को रुढ़िगत विधि, सामाजिक–धार्मिक पद्धति और सामुदायिक सम्पदाओं की परम्परागत

प्रबन्ध-पद्धति के अनुरूप होना होगा। परम्पराओं और रूढ़ियों के अनुसार कार्यकलापों का प्रबन्ध करने वाले समुदाय आवासों के समूह अथवा छोटे गाँव अथवा छोटे गाँव के समूह से मिलकर गाँव बनेगा और निर्वाचक नामावली में समाविष्ट व्यक्तियों को मिलाकर ग्राम-सभा बनेगी। प्रत्येक ग्राम-सभा को जनसाधारण की परम्पराओं और रूढ़ियों, सांस्कृतिक पहचान, सामुदायिक सम्पदा और विवाद निपटारा रुढ़ि को बचाये और बनाये रखने की क्षमता देनी होगी।

पंचायत द्वारा सामाजिक-आर्थिक विकास की योजनाओं, कार्यक्रमों और परियोजनाओं के ग्राम-स्तर पर क्रियान्वयन के पूर्व उसका अनुमोदन ग्राम-सभा करेगी। गरीबी-उन्मूलन और अन्य कार्यक्रमों के लिए हितधारकों की पहचान और चयन की जिम्मेवारी ग्राम-सभा की होगी। प्रत्येक पंचायत के लिए ग्राम-सभा से कार्यक्रमों और परियोजनाओं के लिए निधियों के उपयोग का प्रमाणन प्राप्त करना अपेक्षित होगा। अनुसूचित जनजातियों के लिए अध्यक्ष पद आरक्षित होंगे। प्रातिनिधिक स्थानों में भी जनजातियों का आधे से कम आरक्षण नहीं होगा। मध्यवर्त्ती और जिला स्तर पर प्रतिनिधित्व न पाये अनुसूचित जनजातियों के व्यक्तियों को कुल सदस्य संख्या के अधिकतम 10 प्रतिशत संख्या में नोमिनेट किया जा सकेगा।

अनुसूचित क्षेत्रों में परियोजनाओं की वास्तविक योजना निर्माण और उसका कार्यान्वयन राज्य-स्तर पर समन्वित होगा– इन परियोजनाओं के लिए भूमि अर्जन के पहले और प्रभावितों के पुनर्व्यवस्थापन और पुनर्वास के पहले ग्राम-सभा या समुचित स्तर के पंचायत से (अर्थात ग्राम-सभा से अनिवार्य नहीं) परामर्श किया जाएगा। लघु जल-निकायों की योजना और प्रबन्धन समुचित स्तर के पंचायतों को सौंपा जाएगा। [यहाँ तो या में भी ग्राम-सभा नहीं]। गौण खनिजों के पूर्वेक्षण अनुज्ञप्ति या खनन पट्टा प्रदान करने के पूर्व ग्राम-सभा या समुचित स्तर के पंचायत की पूर्व सिफारिश अनिवार्य होगी। [ग्राम-सभा की ही सिफारिश अनिवार्य नहीं, ग्राम-सभा या उसी ग्राम के व्यक्ति के लिए पट्टा का आरक्षण भी नहीं]। गौण खनिजों की नीलामी में रियायत देने के लिए भी ग्राम-सभा या समुचित स्तर के पंचायत की पूर्व सिफारिश अनिवार्य होगी।

पेसा कानून प्रान्तीय विधान से अपेक्षा करता है कि मद्य-निषेध, मादक द्रव्य के विक्रय और उपभोग को विनियमित और निर्बन्धित करने की शक्ति; गौण वन उपज का स्वामित्व, भूमि पर गलत कब्जे को रोकने और हो चुके कब्जे को वापस करने की उपयुक्त कार्रवाई करने की शक्ति, ग्राम-बाजारों का प्रबन्ध करने की शक्ति; अनुसूचित जनजातियों को धन उधार देने पर नियन्त्रण करने की शक्ति; सामाजिक संकटों में संस्थाओं और कार्यकर्ताओं पर नियन्त्रण रखने की शक्ति; स्थानीय योजनाओं और जनजातीय उपयोजनाओं के लिए स्रोतों पर नियन्त्रण रखने की

शक्ति ग्राम-सभा और समुचित स्तर पर पंचायतों को (यानी ग्राम-सभा को भी) दी जाए। यह कानून प्रान्तों से कानून में ऐसे उपाय करने की अपेक्षा भी करता है कि ऊपर की पंचायतें नीचे की पंचायतों और ग्राम-सभा की शक्ति और प्राधिकार हथिया न सकें। [ब्यूरोक्रेसी नहीं हथिया सके– ऐसी निश्चित खतरे की आशंका के सन्दर्भ में कोई अपेक्षा नहीं है]। जिला-स्तर के पंचायत की व्यवस्था में छठी अनुसूची के प्रतिमान को अपनाने की कोशिश की अपेक्षा भी की गयी है।

पंचायत के इन कानूनों में "कर सकेगा", "करेगा" के अलग-अलग जिक्र हैं। इन पर गौर करने पर विधान-निर्माताओं (सांसदों और उससे भी ज्यादा प्रारूप रचनाकार नौकरशाहों) की मंशा को बड़ा साफ-साफ और सूक्ष्मता से समझा जा सकता है।

कहाँ है इन सबमें स्वशासन

इस अध्याय में जितने संवैधानिक प्रावधान, उच्चस्तरीय नियम-शृंखला और विधानों तथा स्वायत्त सामुदायिक परम्पराओं को जानने-समझने की कोशिश की गयी है, उन्हें आम तौर पर या बड़े पैमाने पर सामुदायिक या ग्राम स्वशासन समर्थक, प्रोत्साहक, प्रेरक या संरक्षक के तौर पर देखा जाता रहा है। किन्तु सचमुच क्या ऐसा है?

केन्द्रीय कानून को मानने की चाह या मजबूरी में झारखण्ड ने भी अपना विधान बनाया है और यथासम्भव उसके अमल को टालने की कोशिशें भी की हैं। पर प्रान्तीय पंचायती विधानों में केन्द्र से ज्यादा कंजूसी और पेचीदगी बरती गयी है। यथासम्भव कतर-ब्योंत, काँट-छाँट की कोशिश की गयी है। अपनी मौजूदा भूमिका में कमी की घोर अनिच्छा और नीचे की जनप्रातिनिधिक संस्थाओं पर अविश्वास और वितृष्णा पूरे दौर में हावी रही है। अपनी इस कमी को छुपाने के लिए समुदायों के आरक्षण में वृद्धि और तोड़-तोड़कर पंचायतों की विषयसूची को बड़ा दिखाने की कोशिश जरूर की गयी है।

पूर्वोक्त समुदायों की पारम्परिक स्वशासन व्यवस्था में परम्परा से चले आ रहे स्वाभाविक सार्वजनिक गतिविधियों की कुछ निर्धारित प्रक्रियाओं और प्रभारों की शृंखला है। यह पूर्णतः एकल समुदाय-केन्द्रित है। इसमें शादी-ब्याह, पूजा-पाठ जैसी सामाजिक-धार्मिक तथा आपसी विवादों के निपटारे जैसी गतिविधियों के संचालन की ही व्यवस्था है। समुदाय की ही खेती, शिक्षा, स्वास्थ्य, सिंचाई, वन प्रबन्ध जैसी गतिविधियों की किसी निर्धारित सामूहिक संचालन और प्रभार-व्यवस्था का जिक्र भी इनमें नहीं मिलता। इस अर्थ में यह समुदाय के अन्दर का भी आवश्यक और प्रभावी स्वशासन का स्वरूप नहीं बनता। सामुदायिक स्वशासन और

ग्राम-स्वशासन एक नहीं। आज की स्थिति में तो नहीं ही है। जब गाँव में एक ही समुदाय होते थे, दूसरे समुदायों के इक्के-दुक्के परिवार ही होते थे और उनकी कोई सामुदायिक व्यवस्था उस ग्राम के अन्दर नहीं बन पाती थी, तब उस गाँव का सामुदायिक स्वशासन और ग्राम स्वशासन एक हो सकता था, जिसमें दूसरे समुदाय की अत्यल्प आबादी सहयोगी के रूप में घुल-मिल जाती होगी। लगातार बढ़ती मिश्रित सामुदायिकता में तो सामुदायिक स्वशासन ग्राम-स्वशासन नहीं ही हो सकता। गाँव या समुदाय की पहली क्षेत्रीय इकाई से दूसरे गाँवों और समुदायों के अन्तर्सम्बन्धों के आधार पर बनी या विकसित सार्वजनिक गतिविधि की कोई स्वशासन-व्यवस्था या लोक-पद्धति का कोई स्पष्ट और जीवन्त रूप नहीं दिख पाता है।

विलकिंसन रूल में तो सामुदायिक व्यवस्था भी मौजूद नहीं है। बस गाँव का विवाद गाँव में ही निपटाने की शासकीय शुभेच्छा है और भूमि-आधारित विवाद और विद्रोह को न होने देने के सचेत उपाय हैं। इनमें ग्रामों और सामुदायिक-पारम्परिक पद्धतियों में हस्तक्षेप न करने का निर्णय निहित है और उस कारण प्रचलित सामुदायिक, सार्वजनिक गतिविधि संचालन या स्वशासन-व्यवस्था को मान्य करने और उसके अक्षुण्ण बने रहने की अनुभूति की निष्पत्ति है। पर उपरोक्त विश्लेषणों के आधार पर ही इसे भी ग्राम स्वशासन या ग्राम-आधारित पंचायती स्वशासन नहीं माना-समझा जा सकता।

पाँचवीं अनुसूची के प्रावधान अनुसूचित जनजाति बहुल क्षेत्रों वाले प्रान्तों में अनुसूचित जनजातियों के संवेदनशील और प्रज्वलनशील मसलों को शीर्ष शासन हस्तक्षेप के माध्यम से निपटाने और अनुसूचित जनजाति के प्रातिनिधिक सलाह को महत्वपूर्ण मानने का अहसास देने के खास मकसद से बने हैं। इसमें सामुदायिक स्वशासन या ग्राम-स्वशासन किसी का भी नामोनिशान नहीं है। यह अतिकेन्द्रित व्यवस्था है। विधायिका से भी ज्यादा केन्द्रित। यह व्यवस्था और इसका कोई सचेत-समर्थ संचालक अनुसूचित क्षेत्रों में स्वशासन की स्थापना करने का काम कर सकता था, पर यह सुखद अपवाद भी कहीं घटित नहीं हुआ।

सच्चे स्वशासन की बुनियादी बातें

पंचायती संस्थाएँ ही, खासकर बहुस्तरीय या अन्तर्सम्बन्धित पंचायती संस्थाएँ ही स्वशासन को शरीर, ढाँचा या आकार देती हैं। कम भूमिकाएँ, कम शक्ति, सांकेतिक प्राधिकार होने पर ये कमजोर और सांकेतिक स्वशासन की संस्थाएँ होगीं और निर्णायक भूमिका में रहने पर स्वशासन की निर्णायक संस्थाएँ होंगी। शिखर शासन और स्वशासन की इकाइयों के बीच के सत्तासम्बन्ध, निर्भरता और पहलशीलता के

तत्वों से यह तय होता है कि स्वशासन रस्मी, नकली और औपचारिक है या वास्तविक और प्रभावी।

स्वशासन को खुद के जरूरी और बुनियादी मामलों में खुद तय करने और खुद करने के अधिकार और अवसर के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह अधिकार और अवसर ऐसा हो जिसका सामर्थ्य भी है और जिसकी सार्वजनिक मान्यता भी है। कोई कानूनी और मान्य तरीके से हमारी मर्जी के खिलाफ हमसे हमारा यह अधिकार न ले सके। हम खुद से तय कर चाहें तो दे दें। अर्थात स्वशासन तभी सम्भव है जब शासन के सभी स्तरों (यानी स्वशासन के स्तरों को भी शामिल कर) के अधिकारों में फेरबदल करने के लिए सबकी संयुक्त सहमति हर हाल में जरूरी हो, खासकर निचली इकाइयों के अधिकार के मामले में निचली इकाई की सहमति और अपेक्षा निर्णायक हो।

स्वशासन और शासन (अच्छे से अच्छा शासन) के बीच का बुनियादी फर्क– "अपने लिए अपने द्वारा" और "हमारे हित में औरों के द्वारा" के बीच का फर्क है। यह सर्वसहभागी पहलकारी शासन और प्रातिनिधिक निर्देशात्मक शासन का फर्क है।

झारखण्ड के कार्यकर्ता–नेतृत्वकर्ता तथा बौद्धिक जमात के मानस में स्वशासन का सपना बड़ी अजीबोगरीब हालत में है। कभी रहस्यमय लगता है, कभी दिग्भ्रमित। कभी बेहद स्पष्ट और दीर्घकालिक तथा कभी बेहद सँकरा और तात्कालिक (समझौतापरस्त–सा)। कभी–कभी तो हम सब आधी–अधूरी चीजों/बातों में अपने बड़े–बड़े सपनों की छवि देखने लगते हैं। जैसे लोग कुछ मानवों में अवतार और जाहिर कमियों से लदे–फदे लोगों में भी चमत्कारिक महामानव देखने लगते हैं।

हमारे स्वशासन के सपनों के एलान में "गाँव में हम ही सरकार", "हमारे गाँव में हमारा राज"; "जल–जंगल–जमीन पर अपना राज", "अबुआ दिशुम अबुआ राज" गूँजता है। और यही नारे गुँजाने वाले हमलोग विलकिंसन रूल, सामुदायिक परम्पराओं, पाँचवी अनुसूची और पेसा में कोई कमी नहीं खोज पाते, कोई जरूरी सुधार नहीं सुझा पाते– अनौपचारिक चर्चाओं में भी नहीं। रणनीतिक–कूटनीतिक कार्यक्रमों में तो सुधार न सुझाने का कोई कारण भी हो सकता है। छठी अनुसूची में हमें अपना भावी आदर्श स्वशासन दिखता है। पेसा और पाँचवी अनुसूची का स्वशासन के प्रावधान के रूप में हम गौरवगान करते हैं। स्वशासन की हमारी अवधारणा को इस शासन संरचना में बड़े परिवर्तन की अपरिहार्यता महसूस नहीं होती।

पंचायती राज को, ग्राम–स्वशासन को, ग्राम–सभा को निर्णायक बनाने के लिए, अपने अन्दर की स्वशासन की शक्ति प्रेरित करने–जगाने के लिए स्वशासन के

सपने को स्पष्ट और व्यापक बनाना होगा। उसे निखार और धार देना होगा। अतिवादी, भावुक, समुदाय संकीर्णता और भ्रामक प्रवृतियों में सपने को फँसने-फाँसने से रोकने के लिए सचेत होना होगा। और तब दूर के चमकते सर्वआयामी स्वशासन की ओर कदम-दर-कदम बढ़ना होगा। अनुकूल किन्तु अधूरे प्रावधानों को आलोचनात्मक तरीके से अपनाना होगा।

कोई शासन अपना बुनियादी वर्चस्व बनाये रहे, अपने को सम्पूर्ण शासक मानता रहे, जमीन पर अपना अन्तिम हक मानता रहे और तब ग्रामीण जीवन में हस्तक्षेप करना लगभग बन्द कर दे, भूमि-विवादों को बढ़ाना-बनाना बन्द कर दे– इस अनुकूलता (तात्कालिक और स्थितिगत) को स्वशासन का अवसर नहीं कहा जा सकता। विधानों के दुष्प्रभाव से संरक्षण को स्वशासन नहीं कहा जा सकता। शासन ने जो भूमिका ले ली है या कभी नहीं दी– शासन उन्हें थोड़ा-सा दे दे और वापस लेने का अधिकार अपने पास ही रखे रहे– इसे भी सच्चा स्वशासन नहीं कहा जा सकता। सामुदायिक आकांक्षाओं, क्षेत्रीय आकांक्षाओं, तात्कालिक अनुकूलताओं का स्वशासन के बुनियादी और दीर्घकालिक घटकों के साथ घालमेल, अपमिश्रण नहीं होने देना चाहिए।

●

परिदृश्य

झारखण्ड का पंचायती सफर

झारखण्ड का स्वतन्त्र प्रान्त के रूप में 15 साल का सफर होने जा रहा है। पंचायती कानून बनाने की शुरूआत तो जन्म के साथ ही हो गयी थी। पाँच महीने के अन्दर कानून बना, किन्तु राजनीतिक और न्यायिक विवादों का, सरकारी कूटनीति का सिलसिला लगभग 10 वर्षों तक चलता रहा। 2010 में जाकर पंचायती संस्थानों के लिए चुनाव हुआ। पंचायती संस्थानों और पंचायती प्रतिनिधियों का वजूद बना। अर्थात पंचायती प्रतिनिधियों और संस्थानों की गतिविधियों का सफर चार वर्ष पूरा कर पाँचवे वर्ष में प्रवेश कर रहा है।

झारखण्ड का क्षेत्र अपने प्रान्तीय अवतार के पहले बिहार प्रान्त का हिस्सा था। 2000 के पहले झारखण्ड में शामिल अंचलों की पंचायती यात्रा बिहार की पंचायती यात्रा का हिस्सा रही।

बिहार के क्षेत्र में प्राचीन काल में, मध्य काल में, प्रारम्भिक ब्रिटिश शासन-काल में पंचायती राज व्यवस्था कैसी थी, कितनी थी; इसका प्रामाणिक विवरण इतना सुलभ नहीं कि यहाँ दिया जा सके। इस विवरण का यहाँ अनिवार्य प्रसंग भी नहीं है। इसी पर केन्द्रित गहन शोध से प्रामाणिक या विश्वासयोग्य जानकारियाँ मिल सकती हैं। 1907 में शाही विकेन्द्रीकरण आयोग के गठन के बाद से ग्राम-पंचायत को गठित करने और सक्रिय करने की बात स्पष्ट रूप में आयी। आयोग की प्रासंगिक सिफारिशें कागज से आगे नहीं बढ़ीं। 1915 में पंचायत विषयक कानूनों और नियमों को बनाने का कार्य भारत-सरकार के प्रस्ताव के जरिये प्रान्तीय सरकारों को मिला। फिर कागजी जकड़ कायम रही। 1917 में ब्रिटिश सरकार ने भारत के शासन में विविध स्तरों में भारतीयों को भागीदारी देने के क्रम में पंचायतों को भी सक्रिय बनाने का इरादा जतलाया। सफल रूप से कार्यशील पंचायतों को कुछ दीवानी-फौजदारी मामलों और कुछ स्थानीय कर वसूली के अधिकार देने की बात कही गई थी। 1919 के भारत सरकार अधिनियम ने पंचायतों का विषय प्रान्तीय सरकारों को हस्तान्तरित कर दिया। इसके असर से 1925 तक आठ प्रान्तों में प्रान्तीय पंचायत अधिनियम बने। इन आठ प्रान्तों में बिहार भी एक था। बिहार स्वायत्त शासन अधिनियम 1920 बना।

भारत-सरकार अधिनियम 1935 में पंचायतों को प्रान्तीय विधायी सूची में शामिल कर दिया गया। 1937 में प्रान्तों में सरकारें बनीं। सरकारों ने जनप्रतिनिधित्व

के आधार पर पंचायती संस्थानों का निर्माण किया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में 1939-1945 तक सिर्फ गवर्नर-शासन ही पूरे देश पर था। उस वक्त पंचायतें शायद ही सक्रिय रही हों।

उसके बाद 1948 में बिहार पंचायती राज अधिनियम 1947 तथा 1962 में बिहार पंचायती राज समिति एवं जिला परिषद अधिनियम 1961 अस्तित्व में आया। ये झारखण्ड के इलाकों में भी लागू रहे। 1993 में भी बिहार पंचायती राज अधिनियम बना, पर वह इन क्षेत्रों पर लागू नहीं हो सका, यानी उस कानून के हिसाब से चुनाव नहीं हो सका। (वह कानून लम्बे समय तक टाला जाता रहा था)।

1948 में बने पंचायती राज कानून के तहत 1952 में पंचायत के चुनाव हुए थे, जो 1955 तक अस्तित्व में रहे। इस कानून के तहत 1962 तक पंचायती संस्थाएँ रहीं। 1961 के बाद प्रखण्ड समिति और जिला-परिषद के स्तर के लिए भी पंचायती चुनाव हुए। इन कानूनों में पंचायती संस्थानों की उम्र तीन साल की होती थी।

73वें (पंचायती राज विषयक) संविधान-संशोधन के पहले बिहार में (यानी झारखण्ड में भी) अन्तिम पंचायत चुनाव 1978 में हुआ था। और बहुत सालों तक मुखिया-सरपंच की कालावधि बीतने के बाद भी मुखिया-सरपंच अपनी कुछ-कुछ भूमिका निभाते रहे। कुछ प्रशासन-अनुशंसित या प्रशासन द्वारा मान्य भूमिकाएँ भी वे निभाते रहे। अलग-अलग क्षेत्रों में प्रभावी भूमिका का विस्तार और कालावधि अलग-अलग रही है।

झारखण्ड में 2001 में झारखण्ड पंचायती राज अधिनियम बना। 24 अप्रैल 2001 को इसको राज्यपाल की मंजूरी मिली। 10 मई 2001 को यह गजट में प्रकाशित किया गया। नवम्बर 2001 में ही पंचायत-चुनाव होने की सम्भावना बनने लगी थी। इच्छुक शक्तियों ने तैयारी भी शुरू कर दी थी। किन्तु राज्यपाल की अधिनियम को पूरी-पूरी मंजूरी मिलने के बाद उसके विरोध में हंगामा शुरू कर दिया गया। यह विरोध मुख्यत: गैरआदिवासी जमातों को धुरी बनाकर राजनीति करने वाले राजनेताओं ने शुरू की थी। आदिवासियों को अनावश्यक प्रधानता और जरूरत से ज्यादा आरक्षण का लाभ दिया गया है, यह उनकी केन्द्रीय आपत्ति थी। गौरतलब है कि आदिवासियों को 50 प्रतिशत आरक्षण दिया गया था। इस विधेयक में अनुसूचित क्षेत्रों की पंचायत, पंचायत-समिति और जिला-परिषद के उप-मुखिया, उपप्रमुख और उपाध्यक्ष पद को भी (मुखिया, प्रमुख, अध्यक्ष के साथ) अनुसूचित जनजाति के सदस्यों के लिए आरक्षित किया गया था। ग्राम-प्रधान के लिए अनुसूचित जनजाति का सदस्य होना अनिवार्य था। झारखण्ड विधानसभा ने पंचायत विधायक में संशोधन की गुंजाइश तलाश करने के लिए एक कमिटी गठन की प्रक्रिया शुरू कर दी थी।

इस विवाद के मद्देनजर झारखण्ड-सरकार पंचायत-चुनाव टालती रही। राज्य निर्वाचन आयोग ने 2003, 2004 और 2005 में चुनाव की तिथियाँ प्रान्तीय सरकार को भेजीं। प्रक्रियात्मक और कानूनी बाधाओं की दलील सरकार देती रही। चुनाव टालती रही। सितम्बर 2003 में झारखण्ड उच्च न्यायालय ने प्रदेश सरकार को चुनाव कराने का पहला निर्देश दिया। सरकार ने अनुसूचित क्षेत्रों में सीटों के आरक्षण का मामला सुलझाने के बहाने से आदेश को टाले रखा।

न्यायालय का दूसरा आदेश आया। 31 मार्च, 2004 तक चुनाव का आदेश हुआ। 8-10 अक्तूबर, 2003 विधानसभा का विशेष सत्र आहुत हुआ। 10 अक्तूबर, 2003 को झारखण्ड पंचायती राज संशोधन विधेयक, 2003 पारित हो गया। पेसा क्षेत्र में उपमुखिया, उपप्रमुख, उपाध्यक्ष पद को अनारक्षित कर दिया गया। गैर-अनुसूचित जनजाति के पारम्परिक ग्राम-प्रधान को मान्य कर लिया गया तथा जिस गाँव में अनुसूचित जनजाति के सदस्य नहीं हैं, वहाँ गैर-अनुसूचित जनजाति की ग्राम-प्रधानता बनाने की बात जोड़ी गयी।

झारखण्ड विधानसभा चुनाव के बाद चुनाव कराने का अनुरोध राज्य-सरकार ने किया। विधानसभा चुनाव 2005 में सम्पन्न हो गया।

झारखण्ड उच्च न्यायालय ने अपने तीसरे आदेश में 31 अक्तूबर 2005 तक पंचायत-चुनाव करा लेने को कहा। इसी आदेश में पेसा 1996 की धारा 3 को, अनुसूचित क्षेत्रों में आदिवासियों को एकल पदों पर 100 प्रतिशत आरक्षण के प्रावधान को अनुचित ठहराया गया। सरकार ने चुनाव टालने का मौका पा लिया।

उच्च न्यायालय के फैसले के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में मामला दायर हुआ। सर्वोच्च न्यायालय में भी यह मामला 4-5 वर्षों तक चलता रहा, टलता रहा। अन्ततः अनुसूचित क्षेत्रों में पंचायत-मुखिया, प्रखण्ड-प्रमुख और जिला-परिषद के अध्यक्ष के पदों पर अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षण को वैध ठहराया गया। पंचायती चुनाव का जनदबाव तो पहले से था। न्यायालय के विचाराधीन होने का बहाना भी नहीं बचा। 2010 के अन्त में पंचायत-चुनाव हुए।

पंचायत-चुनाव के बाद पंचायती जनप्रतिनिधि तो अस्तित्व में आ गये पर पंचायती संस्थाओं की विधानसम्मत सक्रियता अस्तित्व में नहीं आ सकी। 2013 तक वे सारे कार्यक्षेत्र पंचायती संस्थाओं को शासन की ऊपरी इकाई द्वारा सौंपे ही नहीं गये, जो पंचायती राज अधिनियम ने उन्हें दिये हैं। 29 विषयों पर पंचायत निकायों को अधिकार मिलने हैं। 2014 के अन्त तक अधिकतम 10 विषयों पर ही आधी-अधूरी शक्तियाँ मिली हैं।

●

बोलते तथ्य

कानून बना, नियम बने, चुनाव हुए, फिर भी...

- स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा एवं परिवार कल्याण विभाग में पंचायत-प्रतिनिधियों के अधिकार हस्तान्तरण से सम्बन्धित अधिसूचना 25 मार्च, 2013 को जारी हुई। सभी विभाग के प्रधान सचिव, सचिव, प्रमंडलीय आयुक्त, उपायुक्त एवं विभागीय पदाधिकारियों को कॉपी भेज दी गयी– डाक के साथ-साथ ईमेल से भी यह अधिसूचना भेजी गयी। विभाग की वेबसाइट पर तीसरे दिन डाल दिया गया। इसके तहत पंचायत-प्रतिनिधियों को स्वास्थ्य-सेवाओं और कार्यक्रमों की निगरानी एवं पर्यवेक्षण का पूरा अधिकार दिया गया। अधिसूचना के मुताबिक पंचायत-प्रतिनिधि विभागीय कर्मचारियों को दण्डित भी कर सकते हैं। पंचायत-प्रतिनिधियों की रिपोर्ट पर उपायुक्त एवं विभागीय पदाधिकारी कार्रवाई करेंगे। अधिसूचना जारी होने के बाद पाँच महीने बाद भी अमल नहीं हुआ।
- देवघर जिले में एक भी प्रखण्ड स्वास्थ्य मिशन, रोगी कल्याण समिति और अस्पताल प्रबन्धन सोसायटी का अध्यक्ष पंचायत-समिति के प्रमुख को नहीं बनाया गया है। सिविल सर्जन अधिकार हस्तान्तरण सम्बन्धी पत्र न मिलने की बात करते हैं। पंचायती राज कार्यालय के रिकॉर्ड के अनुसार पत्र मिला है। प्राथमिक शिक्षा से सम्बन्धित अधिकार पंचायतों को सौंप दिया गया है। संकल्प 16 फरवरी 2013 को निर्गत हो चुका है। देवघर जिला परिषद की अध्यक्ष के अनुसार कृषि एवं गन्ना विकास और पेयजल व स्वच्छता विभाग को छोड़कर किसी भी विभाग के अधिकारी जिला परिषद से सलाह-मशविरा नहीं करते। सिर्फ परिषद की मासिक बैठक में योजना की प्रगति रिपोर्ट भेज दी जाती है।
- जिला प्रारम्भिक शिक्षा समिति एवं अन्य समितियों के अध्यक्ष उपायुक्त होते हैं। पंचायत-चुनाव के बाद जिला जल एवं स्वच्छता मिशन 'प्रकल्प' की अध्यक्षता का अधिकार जिला परिषद-अध्यक्ष को प्राप्त हो गया है, पहले उपायुक्त अध्यक्ष होते थे।

- पंचायत प्रतिनिधि को किस परिस्थिति में कितनी अवधि तक निलम्बित रखा जा सकता है, इसकी नियमावली नहीं बनी है। पंचायती राज विभाग के उपसचिव परमेश्वर भगत के मुताबिक प्रस्ताव विधि-विभाग के पास विचाराधीन है। फिर भी देवघर जिले के अनेक मुखियाओं का पावर सीज है। कुछ को दो साल से, कुछ को एक साल से कार्यमुक्त रखा गया है। कई जगहों पर प्रखण्ड कृषि पदाधिकारी, प्रखण्ड सहकारिता पदाधिकारी, प्रखण्ड पंचायती राज पदाधिकारी को मुखिया का प्रभार दिया गया है। पंचायती अधिनियम में ऐसा कोई प्रावधान नहीं। अधिनियम 2001 के मुताबिक पंचायती प्रतिनिधि लोकसेवक की श्रेणी में आते हैं। सरकारी नियमों के मुताबिक किसी भी लोकसेवक को छह महीने से ज्यादा निलम्बित नहीं रखा जा सकता।
- 2011-12 से 2013-14 तक राज्य को सभी ग्राम-पंचायतों में 10-10 चापाकल लगाना था। गाँव और टोलों का चयन विधायक को तथा स्थल का चयन ग्राम-सभा को करना था। देवघर में ही 2012-13 में विधायकों ने 5-5 चापाकल की सूची बनाकर जिला जल एवं स्वच्छता समिति को सौंप दी। देवघर जिला परिषद के अध्यक्ष ने स्थल-चयन में ग्राम-सभा का निर्णय न होने का हवाला देकर अनुमोदन से इनकार कर दिया— सूची को ग्राम-सभाओं में भेजने का निर्देश दिया। पर दूसरी बैठक में विधायक-सूची ही अनुमोदित कर दी गयी। 2013-14 में भी यही हुआ। कहा गया कि ग्राम-सभा से सूची लेने में विलम्ब होता, राशि वापस चली जाती, इसी कारण सभी सदस्यों की सहमति से विधायक सूची में आंशिक संशोधन कर उसे अनुमोदित कर दिया गया।
- खूँटी के उपायुक्त मुकेश कुमार ने जनसेवकों का स्थानान्तरण किया। जिला परिषद के अध्यक्ष एवं सदस्यों ने पंचायती राज सचिव और कृषि-विभाग के सचिव से नाराजगी जतायी। मुख्यमंत्री हेमन्त सोरेन के खूँटी दौरे पर उन्हें भी बताया। उपायुक्त को इस स्थानान्तरण में पंचायत-प्रतिनिधियों के अधिकारों का हनन नहीं दिखता। क्योंकि जनसेवकों की पोस्टिंग जिला स्थापना शाखा ने की है। ट्रांसफर-पोस्टिंग का अधिकार स्थापना समिति को है और डी.सी. ही फिलहाल उसके अध्यक्ष हैं। डी.डी.सी. और अन्य चार अधिकारी स्थापना समिति के सदस्य होते हैं। पंचायती राज व्यवस्था अस्तित्व में आने के बाद भी स्थापना समिति के सम्बन्ध में राज्य सरकार की ओर से कोई व्यवस्था नहीं बनायी गयी है। ज्यादातर जिलों में पुरानी व्यवस्था ही चल रही है।
- दुमका में भी 2013 मध्य में ऐसा हुआ था— डी.सी. स्थापना समिति की बैठक बुलाकर जनसेवकों का स्थानान्तरण और पदस्थापना करनेवाले थे। जि.प.

अध्यक्ष पुलिस नाथ सोरेन ने पत्र लिखा। डी.सी. ने सम्मान करते हुए फैसला टाल दिया। जि.प. अध्यक्ष ने स्थापना-समिति की अध्यक्षता की, फैसले लिए, नियुक्ति-पत्र सौंपा, डी.डी.सी. सहयोगी के रूप में मौजूद थे।

- जिला योजना समिति की बैठक की अध्यक्षता जिले के प्रभारी मंत्री करते हैं। राज्य योजना समिति की बैठक की अध्यक्षता मुख्यमन्त्री करते हैं। राष्ट्रपति-शासन में भी जिप-अध्यक्ष को मौका नहीं मिला। देवघर में अध्यक्षता डीसी ने, गोड्डा में एक पूर्व मंत्री हेमलाल मुर्मु ने की।
- ए.के. सिंह के मुख्य सचिव रहने के दौरान मुखिया और पंचायत-सचिवों को मनरेगा चेक काटने का अधिकार एक दिन में सौंपा गया। वीडियो कॉन्फ्रेन्सिंग के जरिये उपायुक्तों को कह दिया गया कि 31 मार्च, 2011 के बाद कोई बी.डी.ओ. मनरेगा का चेक नहीं काटेगा। इसके पीछे केन्द्र का सख्त निर्देश था।
- डी.आर.डी.ए. का विलय जिला-परिषद में करने का केन्द्र का मन्तव्य है। झारखण्ड पंचायती राज अधिनियम की धारा 77 में यह बात है। ग्रामीण विकास विभाग के विशेष सचिव ने आयुक्तों और उपविकास आयुक्तों को पत्र लिखा कि भारत-सरकार के ग्रामीण विकास मन्त्रालय के जिला ग्रामीण विकास अभिकरण (डीआरडीए) प्रशासन मार्गदर्शिका के आलोक में डीआरडीए का विलय जिप में किया जाए। जिप अध्यक्ष को उसके अध्यक्ष की जिम्मेवारी सौंपी जाए। इसके लिए नियमावली संशोधन एवं प्रबन्ध पर्षद का पुनर्गठन किया जाय। इस निर्देश पर अमल नहीं हुआ। केरल और कर्नाटक में डीआरडीए को जिला-परिषद में मिला दिया गया है। प. बंगाल और राजस्थान में भी कमोबेश यह हुआ है। बिहार, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, लक्षद्वीप, ओड़िसा, पंजाब, त्रिपुरा, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, आन्ध्रप्रदेश में जिप अध्यक्ष डीआरडीए का अध्यक्ष होता है।
- परिसम्पति-आकलन, आधारभूत संरचना निर्माण, बेहतर कार्यान्वयन और दैनिक कामकाज के लिए कर्मी की व्यवस्था करने, स्वतन्त्र और सक्षम तथा सक्रिय कार्यालय स्थापित करने का काम जिला परिषदों को करना है। डेढ़ करोड़ रुपये की परिसम्पति-निर्माण का प्रस्ताव राज्य से माँगने पर कई जिला-परिषदों ने प्रस्ताव भेजा। कुछ में तो जिप की जानकारी और बैठक के बिना डीडीसी ने ही प्रस्ताव भेज दिया। खूँटी, बोकारो, सरायकेला, लोहरदगा और हजारीबाग जैसे कई जिलों में अच्छी-खासी अचल सम्पति है।
- खूँटी का सन्दर्भ है। जिप-अध्यक्ष मायलिना तोपनो हैं। जनसेवकों का स्थानान्तरण डीसी द्वारा किया गया। उच्च अधिकारियों को इसके खिलाफ जिप-अध्यक्ष

द्वारा लिखित ज्ञापन दिया गया। जिप बैठक बुलाकर प्रस्ताव पारित कर डीसी द्वारा किये गये जनसेवकों के स्थानान्तरण को निरस्त किया गया। तब भी जनसेवकों को स्थानान्तरित प्रखण्डों में योगदान कराया गया। 12 सितम्बर को जिला स्थापना-दिवस पर आमन्त्रण के बावजूद जिप अध्यक्ष को मंच पर नहीं चढ़ने दिया गया।

- रामगढ़ जिला, दोहाकातू पंचायत, लोलो गाँव। 29 अक्टूबर 2012 को 2013-2014 के मनरेगा योजना के चयन हेतु जिला-प्रशासन के निर्देश पर वार्षिक ग्राम-सभा हुई। 300 के लगभग मतदाता वाले ग्राम-सभा में कोरम के लिए 10 प्रतिशत यानी 30 लोगों की जरूरत थी, उससे ज्यादा लोग उपस्थित थे। 20 लोगों ने खुद से बैठकर योजनाओं की सूची बनायी थी और लेकर पहुँचे थे। दो घण्टे तक चली बैठक में 42 योजनाओं पर सहमति बनी। दोहाकातू से लोलो की दूरी लगभग 20 किलोमीटर है, इस एक पंचायत के गाँवों के बीच दूसरी पंचायतों के गाँव ही नहीं, दूसरे जिले राँची के भी कुछ क्षेत्र आ जाते हैं।
- जमुनियाँ पंचायत - मनोहरपुर प्रखण्ड - जिला देवघर। 2008-09 में 20 लाख रुपये की लागत से पंचायत-भवन बना, एक सभा-कक्ष - 10 कमरे। कोई पदाधिकारी-कर्मचारी नहीं आता। कार्यालय का सब कार्य मुखिया के घर से संचालित होता है। कुछ अभिलेख मुखिया, कुछ पंचायत-सेवक और रोजगार-सेवक अपने पास रखते हैं।
- देवघर प्रखण्ड, संग्रामलोढ़िया पंचायत। 21 लाख रुपये की लागत से गाँव के बाहर चकाचक पंचायत-भवन बना है। बिजली-पानी की सुविधा नहीं है। कोई काम यहाँ से नहीं होता। कुछ सामान रखने पर चोरी भी चला गया। सुरक्षा न होने की वजह से कुछ अभिलेख मुखिया, कुछ पंचायत सचिव, कुछ रोजगार-सेवक अपने पास रखते हैं।
- देवघर जिला, मोहनपुर प्रखण्ड, रघुनाथपुर पंचायत की बात है। पंचायत-भवन के अभाव में अभिलेख जहाँ-तहाँ रहते हैं। अधिकांश अभिलेख पंचायत-सेवक प्रखण्ड मुख्यालय से 22 किलोमीटर दूर अपने देवघर स्थित घर पर रखते हैं।
- जनता की कुछ अनाम दर्ज शिकायतें हैं। जनप्रतिनिधि हस्ताक्षर कराने में कमीशन लेते हैं। पैसे देने पर 5 दिन में, पैसा नहीं देने पर 60 दिन में प्रमाणपत्र निर्गत होता है। पंचायत-सचिवालय के सामान का निजी उपयोग होता है। कर्मचारी एवं पंचायत-सेवक पंचायत-सचिवालय में नहीं बैठते। मुखिया ने पत्नी को सहिया बनाया।

90 प्रतिशत पंचायतों के पास अपना डाटा बेस नहीं है।

- पूर्वी सिंहभूम जिले के पोटका प्रखंड के संगठन ''मुखिया-उपमुखिया समन्वय समिति'' के प्रतिनिधिमण्डल ने 9 नवम्बर 2012 को मुख्यमन्त्री अर्जुन मुंडा को मिलकर ज्ञापन दिया। 29 अधिकार सौंपने की माँग की। मुंडा ने कहा, मुखिया पंचायत के मुख्यमन्त्री हैं। खुद ही योजना बनाकर मुझे भेजें। धीरे-धीरे सभी अधिकार दिये जाएँगे। पंचायत चलाने के लिए मुखियों को प्रशिक्षण की आवश्यकता है। प्रतिनिधिमण्डल ने पंचायत समिति-सदस्य, वार्ड-सदस्य, ग्राम-प्रधान, मुखिया, जिला-पार्षद के लिए मानदेय की माँग की।
- लातेहार में नाराज जनप्रतिनिधियों ने बीडीओ कक्ष में ताला जड़ा था। दोनों पक्षों ने एक-दूसरे पर प्राथमिक दर्ज करायी। वरीय पदाधिकारियों और पंचायत प्रतिनिधियों की पहल से मामला सुलझा।
- 16 नवम्बर 2012 को धनबाद जिले के बाघमारा प्रखण्ड में प्रखण्ड-प्रमुख और प्रखण्ड के अधिकारियों के बीच मारपीट हुई और एक-दूसरे के खिलाफ एफआईआर दर्ज हुआ। प्रमुख की सहमति के बिना बीडीओ फैसले ले रहे थे। प्रमुख को आशंका रही कि उनके खिलाफ पूर्व में लाये गये अविश्वास प्रस्ताव के पीछे बीडीओ हैं। बीडीओ ने अपने कुछ लोगों के साथ बैठकर पाइका खेल-आयोजन की तारीख घोषित कर दी। आयोजन-समिति में प्रमुख एवं उपप्रमुख को नजरअन्दाज किया गया। विरोध के बाद बीडीओ को तारीख रद्द करनी पड़ी। बीडीओ और प्रमुख की ओर से संयुक्त घोषणा हुई। प्रमुख ने इस मद में बीडीओ को प्राप्त 95 हजार रुपये की माँग की। विपत्र जमा करने की बात पर बीडीओ पैसा देने के लिए तैयार हुए। बची राशि के तीन हिस्से में बँटवारे की सहमति बनी। खेल खत्म होते ही पैसे की माँग शुरू और बीडीओ का टालमटोल हुआ। विशेष प्रमण्डल द्वारा बनाये जा रहे प्रखण्ड-प्रमुख कक्ष का निर्माण हो रहा था। प्रमुख, उपप्रमुख, दो पंचायत-समिति सदस्यों ने निर्माण रोका। 17 नवम्बर को तमाम प्रमुखों की बैठक हुई। डीसी से मिलकर बीडीओ के पूरे कार्यकाल की जाँच की माँग की गयी। पंचायत-प्रतिनिधियों की बैठक में बीडीओ के स्थानान्तरण की माँग की गयी। कर्मचारी-संघ भी प्रमुख के खिलाफआन्दोलन पर उतरा।
- 22 जून 2012, देवघर जिले के पालाजोरी प्रखण्ड-परिसर में विधायक शशांक शेखर भोक्ता को जलमीनार का उद्घाटन करना था। कार्यक्रम में जिला-परिषद के सदस्य को सूचना नहीं दी गयी थी। उद्घाटन के समय जिला-परिषद सदस्य हफीजन बीबी ने शिलापट्ट के सामने अपनी गाड़ी खड़ी कर दी। तिलमिलाये विधायक ने अधिकारियों से एफआईआर दर्ज कराने को कहा। अधिकारी शान्त रहे।

- सितम्बर, 2012 में देवघर जिला-परिषद की बैठक में परिषद-सदस्यों और जिला जल एवं स्वच्छता मिशन के सचिव के बीच हाथापाई हुई। परिषद-सदस्य मधुपुर के एक कार्यक्रम में आमन्त्रित नहीं किये जाने से नाराज थे। अभियंता एवं परिषद सदस्यों ने एक-दूसरे के खिलाफ प्राथमिकी दर्ज करायी।
- 17 अक्तूबर 2012 को गढ़वा जिले के रंका प्रखण्ड में 10 बजे विधायक सत्येन्द्रनाथ तिवारी को साइकिल-वितरण करना था। विधायक एवं बीडीओ 11 बजे तक नहीं पहुँचे। पंचायत-प्रतिनिधियों ने जिला-परिषद अध्यक्ष सुषमा मेहता के नेतृत्व में गोदाम का ताला तोड़ दिया और साइकिल-वितरण कर दिया। पंचायत-प्रतिनिधियों और जिप-अध्यक्ष को कार्यक्रम में आमन्त्रित किया गया था। बीडीओ की ओर से जिप-अध्यक्ष, पंचायत-समिति प्रमुख, उपप्रमुख, मुखिया, वार्ड-सदस्यों - कुल 19 लोगों पर गढ़वा थाने में प्राथमिकी दर्ज करायी गयी।
- 10 अप्रैल 2012 को लातेहार प्रखण्ड की बीडीओ ने पंचायत-समिति की बैठक बुलायी थी। सभी सदस्य आये। बीडीओ नहीं आयीं। बैठक हुई। गुस्साये पंचायत-समिति के सदस्यों ने बीडीओ-कार्यालय में तालेबन्दी कर दी। बीडीओ ने पंचायत-समिति के सदस्यों के खिलाफ प्राथमिकी दर्ज करायी। पंचायत-समिति प्रमुख ने भी बीडीओ पर प्राथमिकी दर्ज करा दी।
- 2012 में पंचायत प्रतिनिधियों पर अविश्वास प्रस्ताव की नियमावली बनी। दर्जन भर प्रखण्डों में प्रमुख के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाया गया। कुछ गिरे भी, कुछ पास भी हुए।
- जमुआ प्रखण्ड में प्रमुख के पक्ष की ओर से 15 पंचायत-समिति सदस्यों को तारापीठ घुमाने ले जाया गया और इस तरह आवश्यक तीन-चौथाई सदस्यों की उपस्थिति न होने के कारण अविश्वास प्रस्ताव गिर गया।
- सिमडेगा जिले के ठेठईटांगर प्रखण्ड में पंचायत-समिति प्रमुख के खिलाफ लगे प्रस्ताव पर 21 सदस्य वाले समूह में में 11 की उपस्थिति रही। एसडीओ के समक्ष 11 ने अविश्वास प्रस्ताव के समर्थन में मत दिया। पर तीन-चौथाई मतदान नहीं होने के कारण अविश्वास प्रस्ताव निरस्त हो गया।
- कोडरमा, हंटरगंज (चतरा), खलारी, रातू जैसे अनेक जगहों पर पंचायत-प्रतिनिधियों ने सड़क पर उतर कर अपना विरोध जाहिर किया।
- सरकारी कार्यक्रमों में पंचायत-प्रतिनिधियों की उपेक्षा की घटनाएँ लगातार टकराहटों और विरोध-प्रदर्शनों के बाद करीब-करीब खत्म हो गयीं। इस सन्दर्भ में राज्य-सरकार की ओर से भी दिशा-निदेश जारी हुआ।
- 2012 में पाइका (ग्राम स्तरीय टीमों की भागीदारी वाला एक सरकारी खेल

आयोजन) खेलकूद का आयोजन पूरी तरह पंचायती प्रतिनिधियों की देखरेख में हुआ। सीधे पंचायतों को यह राशि दी गयी। लगभग 70 लाख रुपये तक का खर्च हुआ।

- 2012 में सभी जिलों में जिला-परिषद एवं पंचायत-समिति की स्थायी समितियों का गठन हुआ। पंचायत, प्रखण्ड और जिला-स्तर पर लगभग हर महीने पंचायत प्रतिनिधियों की बैठक होने लगी। योजनाओं की भौतिक एवं वित्तीय उपलब्धियों पर गहन समीक्षा, विभिन्न विभागों की योजनाओं के निरीक्षण के कारण क्रियान्वयन में सुधार आया।
- अदालत के कड़े निर्देश और पंचायत-प्रतिनिधियों के बढ़ते दबाव के बाद कृषि से सम्बन्धित अधिकार तथा समाज कल्याण एवं बाल विकास विभाग के कुछ कार्यों के निष्पादन का अधिकार अक्तूबर एवं नवम्बर 2012 को पंचायतों को दिया गया। अधिकांश भूमिकाएँ/शक्तियाँ पंचायत-समिति एवं जिला-परिषद को दी गयी हैं। मुखिया को कुछ गिनी-चुनी शक्तियाँ ही दी गयी हैं।
- पोटका के मानपुर में सवा करोड़ रुपये की लागत से बना अस्पताल चिकित्सक, चिकित्सा कर्मचारी एवं बिजली के अभाव के कारण सिर्फ ओपीडी सेवा को छोड़कर निष्क्रिय है। ट्रांसफॉर्मर की क्षमता बढ़ाने और दो फेज तार करने से बिजली की समस्या दूर हो जाएगी। सिविल सर्जन एवं प्रभारी चिकित्सा पदाधिकारी के अनुसार बिजली विभाग की निष्क्रियता है। सहायक अभियन्ता, विद्युत के अनुसार राशि जमा करने का पत्र स्वास्थ-विभाग को भेजा गया है, राशि जमा होते ही कनेक्शन उपलब्ध करा दिया जाएगा।
- धनबाद में 68 प्रतिशत पंचायतों तक ममता वाहन (मातृत्व एम्बुलेन्स व्यवस्था) की पहुँच नहीं है।
- झारखण्ड में पंचायत-प्रतिनिधियों को बर्खास्त करने का नियम नहीं है। वित्तीय शक्ति सीज करने, वापस करने के बारे में भी नियमावली नहीं है। नियमावली के अभाव में कदाचार एवं अनियमितता के सिद्ध मामलों में भी वर्ष 2011 में किसी पंचायत-प्रतिनिधि पर कोई कार्रवाई नहीं की गयी थी। उस वक्त प्रान्तीय सरकार को नियम बनाने का प्रस्ताव भेजा गया था, सुनवाई का अधिकार न्यायपालिका को सौंपने का प्रस्ताव दिया गया था। अभी तक प्रान्तीय सरकार की ओर से कोई निर्णय नहीं लिया गया है।
- गढ़वा जिला, रंका प्रखण्ड, सोनदाग पंचायत। अनुमण्डलाधिकारी ने इन्दिरा आवास योजना के आवंटन में गड़बड़ी पायी। मुखिया मालती देवी को बर्खास्त कर दिया गया। बीडीओ से मात्र स्पष्टीकरण पूछा गया है। बाद में उपायुक्त कहते हैं, बर्खास्त नहीं किया गया है, वित्तीय अधिकार जब्त किया गया है।

- देवघर जिला, सारवाँ प्रखण्ड, बैजुकुरा पंचायत। मुखिया सुलेखा देवी पर कुछ लोगों ने सरकारी राशि के गबन का लिखित आरोप लगाया। 19 नवम्बर 2011 को प्रशासन द्वारा मामले की जाँच होती है। अग्रिम भुगतान का प्रावधान न होने तथा मामले को अग्रिम भुगतान का मानकर प्राथमिकी दर्ज होती है। पुलिस जाँच का निष्कर्ष है कि कोई राशि गबन नहीं हुई है। 12 दिसम्बर 2011 को बिना स्पष्टीकरण माँगे मुखिया का पावर सीज कर लिया जाता है। देवीपुर प्रखण्ड, बाघमारी पंचायत के मुखिया राजेश राय पर 24 दिसम्बर 2011 को मनरेगा-योजना में मशीन उपयोग की प्राथमिकी दर्ज करायी जाती है। जिला-प्रशासन 6 फरवरी 2012 को उपमुखिया को मुखिया बना देता है। छह जून को राजेश राय को जमानत मिलती है। 25 अगस्त को उन्हें प्रभार वापस करने का प्रस्ताव पंचायत की कार्यकारिणी पास करती है। अब तक फैसला नहीं हुआ है। निलम्बन या बर्खास्तगी का पत्र राजेश राय को नहीं मिला है, फिर भी उन्हें कार्यमुक्त रखा गया है। इस मामले में निलम्बित पंचायत-सेवक को प्रशासन ने निलम्बन-मुक्त कर दिया है।
  फरवरी 2012 में पंचायती राज मन्त्री सुदेश महतो ने देवघर के दौरे में इन घटनाओं की जानकारी मिलने के बाद डीसी, डीडीसी को फटकार लगाते हुए ऐसे मुखिया को निलम्बन-मुक्त करने की बात कही थी। अब भी तीन मुखिया निलम्बित हैं।
- रांची जिला, ओरमाँझी प्रखण्ड, चन्दरा पंचायत की अनुसूचित जनजाति की मुखिया कुसुम उराँव के पास मुखिया चुने जाने का प्रमाण-पत्र है। डॉक्टर के अनुसार उन्हें कैंसर है। उनके पति कल्याण विभाग की ओर से अनुसूचित जनजाति के लोगों को इलाज के लिए मिलने वाली आर्थिक मदद का आवेदन सिविल सर्जन ऑफिस में जमा करने गये। आवासीय और जाति पहचान-पत्र साथ लगाने की बात कही गयी। प्रज्ञा केन्द्र और एसडीओ ऑफिस के बीच मामला लटका हुआ है। अभी तक ये प्रमाण पत्र नहीं मिले हैं।
- गुमला जिला परिषद के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष के खिलाफ 20 दिसम्बर 2012 को अविश्वास प्रस्ताव लाया गया। 15 निर्वाचित जिप-सदस्य, चार विधायक, दो सांसद, 11 प्रमुख को मिलाकर कुल 32 सदस्यों में तीन-चौथाई उपस्थिति और उपस्थिति की तीन-चौथाई का मत अविश्वास प्रस्ताव के पारित होने के लिए आवश्यक था। 24 सदस्य हाजिर नहीं हुए। अविश्वास प्रस्ताव गिर गया। कुरसी बचने की खुशी में अध्यक्ष, उपाध्यक्ष (दोनों महिला) ने निर्वाचन के वक्त से भी ज्यादा शानदार जुलूस शहर में निकाला। जुलूस के फोटो में अध्यक्ष-उपाध्यक्ष से भी बड़ी माला पहने एक पुरुष उंगलियों का विजय चिन्ह

लहराता दिखता है। अध्यक्ष के पति अशोक भगत आजसू के नेता हैं, । अध्यक्ष का कहना रहा कि पाँच प्रतिशत कमीशन के लिए उनके खिलाफ यह साजिश चल रही है।

- झारखण्ड-सरकार ने ज्ञापांक 21/स.क. 2011-12-2007 दिनांक 06.12.12 के जरिये जारी संकल्प में समाज कल्याण, महिला एवं बाल विकास से सम्बन्धित योजनाओं के लिए लाभुकों का चयन, निगरानी और सुनवाई का अधिकार पंचायतों को दिया है। विभाग की निधि, कार्य एवं कर्मी पर पंचायतों का हक है। झारखण्ड पंचायती राज अधिनियम 2001 की धारा 75 की उपधारा 25(iii) में ग्राम-पंचायत को, धारा 76 की उपधारा (xxiv) (ग) में पंचायत-समिति को और धारा 77 की उपधारा (xxiii)(ग) में जिला-परिषद को यह अधिकार दिया गया है।

  अन्तर्राज्यीय प्रवासी श्रमिक (नियोजन एवं सेवा शर्त विनियमन) अधिनियम 1979 में पंजीयन से पहले ठेकेदार, एजेण्ट एवं मेट का लाइसेंस होना जरूरी है। पहले लाइसेंस उपायुक्त जारी करते थे। अब पंचायतों के जिम्मे आ गया है। इस सम्बन्ध में झारखण्ड-सरकार के श्रम, नियोजन एवं प्रशिक्षण विभाग ने 19 जुलाई 2011 को अधिसूचना संख्या 1793 जारी की है। इसके मुताबिक पंचायत सचिव लाइसेंसी पदाधिकारी और प्रखण्ड विकास पदाधिकारी निबन्धन पदाधिकारी बनाये गये हैं।
- 2012 में पोटका प्रखण्ड-प्रमुख भुवनेश्वर सरदार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाया गया था।
- 21 जनवरी 2013 को बहरागोड़ा प्रखण्ड-प्रमुख झानो मांडी के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाया गया। 18 ने अविश्वास प्रस्ताव के पक्ष में और 7 ने विरोध में मत दिया। एक वोट से प्रमुख बची ।
- 15 जनवरी को काँके पंचायत-समिति की बैठक प्रखण्ड-मुख्यालय स्थित किसान-भवन में होनी थी। बीडीओ छुट्टी पर थीं। अन्य अधिकारी नहीं आये। बैठक स्थगित हुई। उपायुक्त से मिलकर लिखित शिकायत दर्ज करायी गयी। उपायुक्त ने बीडीओ से बात की। 22 जनवरी को बैठक हुई। एक छोड़ सभी अधिकारी आये।
- पूर्वी सिंहभूम जिला-परिषद के सदस्यों ने अध्यक्ष सोनिया सामन्त और उपाध्यक्ष अनिता देवी के पतियों के हस्तक्षेप की शिकायत की। पहले तो वे कमेटी की बैठक में भी आते थे। सदस्यों के विरोध के बाद आना बन्द हुआ। पर अभी भी वे परिषद के चैम्बर का प्रयोग करते हैं। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों ने हस्तक्षेप की बात नकारी है।

- 16 जनवरी को नगड़ी पंचायत-समिति के प्रमुख और उपप्रमुख के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव आया। अनुमंडल पदाधिकारी के समक्ष सम्पन्न प्रस्ताव पर मतदान में अविश्वास प्रस्ताव के पक्ष से ज्यादा विरोध में मत पड़े।
- गिरिडीह जिले में कई ऐसे पंचायत एवं प्रखण्ड हैं, जहाँ वहाँ के निर्वाचित प्रतिनिधि नहीं रहते हैं। बेंगाबाद प्रखण्ड के जिला-परिषद सदस्य राजेश यादव शहर में रहते हैं। बेंगाबाद की प्रमुख मीना देवी गिरिडीह शहर में रहती हैं। बेंगाबाद के भण्डारीडीह की मुखिया शहर में रहती हैं। गांडेय की प्रमुख अंजु देवी, उपप्रमुख शगुफ्ता कमर जिला मुख्यालय में रहती हैं। गांडेय प्रखण्ड के फुलची पंचायत के मुखिया नन्दलाल मुर्मु, उदयपुर पंचायत की मुखिया सोनीदी मरांडी, उदयपुर पंचायत की पंचायत सदस्य सुशीला सोरेन, कुंडलवादह पंचायत की पंचायत-समिति सदस्य हींगामुनी देवी, अहिल्यापुर पंचायत की पंसस चम्पा देवी आदि जिला मुख्यालय में रहते हैं।
- लोहरदगा जिले के भटखिजरी पंचायत की मुखिया नौमितारानी भगत ने पंचायत को स्वच्छ बनाने के लिए खुले में शौच करने वालों पर जुरमाना लगाया।
- कोडरमा जिले के चाराडीह पंचायत के मुखिया महेश प्रसाद ने ग्रामीण जलापूर्ति योजना के जरिये पंचायत के खाते में 2,32142 रु. जमा किया।

  कोडरमा जिले के खरकोय पंचायत के मुखिया उमेश यादव ने 29; राँची जिले के रघुनाथपुर पंचायत के मुखिया महादेव भगत ने 32; गोड्डा जिले के हसनकर हरिया पंचायत की मुखिया कुलशन आरा ने 50 बन्द और पुराने हैण्डपम्पों को सुधारकर चालू करवाया।

  हजारीबाग जिले के मेरू सदर पंचायत के मुखिया राजीव मेहता ने जल-कर से 97,273 रुपये की आय अर्जित की।

  राँची जिला के बेड़ो पंचायत के मुखिया राकेश भगत ने जल-कर के जरिये 71,000 रु. की आय अर्जित की। पंचायत में 205 लोग पाइप के जरिये पानी का उपयोग करते हैं।
- सितम्बर 2012 में कार्यशाला आयोजित कर पंचायत सशक्तीकरण एवं जवाबदेही प्रेरक योजना (पायस) के बारे में बताया गया। केन्द्र की कसौटियों में बदलाव कर राज्य के अनुकूल बनाया गया और पुरस्कार हेतु विभिन्न स्तर के पंचायतों की सूची माँगी गयी। महज 9 ग्राम-पंचायत, पाँच पंचायत-समिति और एक जिला-परिषद का प्रस्ताव आया। धनबाद जिला-परिषद; धनबाद और देवघर की पंचायत समिति तथा धनबाद, देवघर और हजारीबाग के पंचायतों का प्रस्ताव आया था। केन्द्र-सरकार द्वारा कामकाज पर आधारित अंकों के साथ

तैयार प्रश्नावली के जवाब पर 80 प्रतिशत अंक लानेवाले को पुरस्कृत करने की योजना है। कम प्रस्ताव आने का कारण इस मापदण्ड पर खरा नहीं उतरना रहा।

99 प्रतिशत ग्राम-सभाओं की स्थायी समितियों का गठन नहीं हुआ है। ग्राम-सभा की नियमित बैठक नहीं होती। जो बैठकें होती हैं, उसमें महिलाओं की भागीदारी नहीं के बराबर होती है। मनरेगा को छोड़कर किसी योजना के लाभुक चयन में ग्राम-सभा को नहीं पूछा जाता। सरकारी कार्यक्रमों और योजनाओं के सामाजिक अंकेक्षण में ग्राम-सभाएँ कुशल भूमिका नहीं निभा पाती हैं। ग्राम-पंचायत, पंचायत-समिति और जिला-परिषद की स्थायी समितियाँ गठित हो गयी है लेकिन इनकी नियमित बैठकें नहीं होती हैं। ग्राम-पंचायतों के पास अपनी कार्ययोजना एवं बजट नहीं है। अपना कोई फण्ड नहीं है। पेयजल को छोड़कर बाकी विषयों पर फण्ड बनाने की दिशा में कोई काम नहीं हुआ है। योजना-निर्माण के लिए आवश्यक जानकारियाँ पंचायतों के पास नहीं हैं। ग्राम-पंचायतों के पास कर्मचारी के नाम पर एक पंचायत-सेवक है। पंचायत-सेवक भी पाँच-पाँच पंचायतों के प्रभार में हैं। वित्त आयोग का गठन हो गया है। जिला योजना-समितियों का भी गठन हो गया है। कानूनन हर माह डीपीसी (जिला योजना-समिति) की बैठक होनी चाहिए, पर 14 महीने में दो-तीन से ज्यादा बैठकें कहीं भी नहीं हुई हैं। झारखण्ड टॉप-20 राज्यों में भी नहीं है। गोवा में पंचायत 11 प्रकार का लेवी टैक्स वसूलती है, 18 विषय पंचायत को सौंप दिया गया है। पंचायतों का अपना कोर स्टाफ है। सिक्किम में 17 विभागों का अधिकार पंचायत के पास है। इसके अलावे हर विभाग की 10 प्रतिशत राशि मुक्त फण्ड के रूप में दी जाती है।

- पोटका प्रखण्ड (जिला-पूर्वी सिंहभूम) के सभी पंचायत-प्रतिनिधि "मुखिया-उपमुखिया समन्वय समिति" के बैनर तले 16 अप्रैल 2013 को प्रखण्ड-मुख्यालय के समक्ष धरना देने वाले हैं। प्रतिनिधि बीडीओ के रवैये से क्षुब्ध हैं। उसी योजना को स्वीकृति मिलती है, जिसे बिचौलिये चाहते हैं। उसी पंचायत को राशि आवंटित होती है, जहाँ बीपीओ, बीडीओ और बिचौलियों की मनमर्जी चलती है। ...जिलों से राशि आवंटित होने के बाद बीडीओ मनमानी करती हैं। राशि सभी पंचायतों में बराबर बँटनी चाहिए पर ऐसा नहीं होता। ...पंचायत-सेवक, रोजगार-सेवक, जनसेवक और राजस्व कर्मचारी मुखिया की बात नहीं सुनते हैं। शिकायत करने पर भी बीडीओ उन पर कोई कार्रवाई नहीं करते। चापाकल खराब पड़ा है। जलसहिया के खाते में राशि नहीं भेजी जाती है। पंचायत-प्रतिनिधियों को जनाक्रोश का सामना करना पड़ता है। पेयजल एवं स्वच्छता विभाग के सहायक अभियन्ता हमेशा जमशेदपुर में ही

रहते हैं। वे 11 साल से पोटका में ही हैं।

समन्वय-समिति की प्रमुख माँगें हैं : 1. अधिकार हस्तान्तरण से सम्बन्धित आदेश की प्रति सभी पंचायत-प्रतिनिधियों को उपलब्ध करायी जाए 2. बीपीओ एवं पीएचईडी के एई का ट्रांसफर हो 3. जिला-परिषद-सदस्य, पंचायत-समिति सदस्य और वार्ड-सदस्य को मानदेय दिया जाए 4. पदाधिकारियों और कर्मचारियों का रिक्त पद भरा जाए 5. पंचायत-सेवक, रोजगार-सेवक, जनसेवक, एवं राजस्व कर्मचारी का आवासन पंचायत में हो 6. मनरेगा-फण्ड सीधे पंचायत खाते में दें 7. सामाजिक-सुरक्षा पेंशन में आवंटन दें 8. चापाकल-मरम्मत की राशि जलसहिया को दें।

- गुमला जिला-परिषद की अध्यक्ष सतबन्ती देवी कहती हैं कि अफसर लोग अपनी अफसरशाही दिखाते हैं। राज्य से पत्र आता है तो जिले में दबा देते हैं। गुमला के उपायुक्त डॉ. परवीन कुमार बताते हैं कि सरकार ने संकल्प जारी किया है। अभी नोटिफिकेशन नहीं हुआ है। संकल्प एक नीतिगत निर्णय होता है। इसे अमल में लाने के लिए नोटिफिकेशन जरूरी होता है। ... कृषि एवं गन्ना विकास विभाग के सचिव अरुण कुमार सिंह कहते हैं कि संकल्प जारी हो गया है, अब कौन-सा नोटिफिकेशन जारी होगा। ...यह अफसरों का निकम्मापन है कि वे जिला-परिषद के अध्यक्ष को विभागीय पत्र नहीं दिखाते हैं, उनसे सलाह-मशविरा नहीं लेते हैं। ...अफसर गोलमटोल जवाब दे रहे हैं। जिम्मेदारी से भाग रहे हैं। पंचायत-प्रतिनिधि अफसरों पर चढ़ाई करें। मानव संसाधन विकास विभाग के सचिव डी. के. तिवारी का कहना है कि अधिसूचना से ज्यादा महत्व संकल्प का है, संकल्प ज्यादा शक्तिशाली है। पंचायत प्रतिनिधि अपने-अपने क्षेत्राधिकार में पदाधिकारियों के साथ बैठक करें, योजनाओं की समीक्षा करें, उनमें सहयोग करें। इसमें कहीं कोई बाधा है तो सरकार को पत्र लिखें; फिर देखें कि कार्रवाई होती है या नहीं।
- पंचायत-प्रतिनिधि चाहे जो भी बहाना बना लें, वे अभी तक अपने को अफसरों से ऊपर नहीं समझते हैं। ... जनप्रतिनिधि जनता की समस्याओं एवं मुद्दों को लेकर स्वयं कुछ करने की सोच और जज्बा दिखाना तो दूर, एक पत्र भी नहीं लिखते हैं। सरकारी संकल्प की अवहेलना होने के बाद भी सरकार को एक पत्र तक नहीं लिखा जाना इसका प्रमाण है।
- पूर्वी सिंहभूम जिले के धालभूमगढ़ प्रखण्ड के चुकरीपाड़ा पंचायत के हदाजुड़ी गाँव के डुबकाडीह में 7 मई को ग्राम-सभा हुई। ग्रामीणों ने ग्राम-प्रमुख लीला सिंह को भ्रष्टाचार के मामलों को लेकर आरोप पत्र सौंपा। आधार फॉर्म के लिए प्रति फॉर्म मुखिया द्वारा 5 रु. वसूलने, वार्ड-सदस्य मालती मुर्मु द्वारा 18

साल से कम आयु के किशोर-किशोरियों और बच्चों के आवेदन को अभिप्रमाणित करने के लिए 50 रु. वसूलने की बात कही गयी है। वार्ड-सदस्य मालती मुर्मु ने आरोपों को गलत ठहराया है।

- गिरिडीह जिले के धनवार प्रखण्ड की उपप्रमुख सुनीता गुप्ता ने कई स्कूलों का औचक निरीक्षण किया। उपप्रमुख ने निरीक्षण में आयी गड़बड़ियों की रिपोर्ट जिला शिक्षा अधीक्षक को दे दी है।
- पेसा के तहत राज्य के आठ विभागों– वन, राजस्व एवं भूमि सुधार, जल संसाधन, कृषि एवं गन्ना विकास, पंचायती राज, उत्पाद, खान एवं भूतत्व और विधि विभाग के कानूनों में संशोधन होना है। बिहार भूमि सुधार अधिनियम 1961, सिंचाई अधिनियम, माइंस एण्ड मिनरल एक्ट, कृषि उत्पाद बाजार अधिनियम, वनोत्पाद अधिनियम, केन्दू पत्ता अधिनियम, उत्पाद अधिनियम आदि में संशोधन होना है। इन कानूनों में संशोधन के लिए केन्द्रीय पंचायती राज विभाग कई बार सम्बन्धित विभागों को पत्र लिख चुका है। मुख्य सचिव की अध्यक्षता में हुई बैठकों में भी इसकी चर्चा हुई है। विभागों को कानून बदलने के लिए कहा गया है किन्तु कार्रवाई शून्य है। पाँचवी अनुसूची के अन्तर्गत आनेवाले नौ राज्यों आन्ध्रप्रदेश, छतीसगढ़, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान, महाराष्ट्र और झारखण्ड में कई राज्यों में पेसा के तहत अधिकार देने के लिए कानून बदले गये हैं।
- राँची जिले के बेड़ो प्रखण्ड के पुरियो ग्राम-सभा की बैठक में ग्रामीणों ने विद्यालय की समस्या, स्वास्थ्य की समस्या और बीपीएल-सूची की गड़बड़ी को लेकर मुखिया और पंचायत-प्रतिनिधियों का विरोध किया और उन्हें डेढ़ घण्टे तक बन्धक बनाये रखा।
- राँची जिला-परिषद की अध्यक्ष सुन्दरी तिर्की के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव जुलाई माह में लाया गया था। तीन-चौथाई की उपस्थिति का कोरम पूरा नहीं होने के कारण अविश्वास प्रस्ताव गिर गया। राँची जिला-परिषद में 29 निर्वाचित परिषद सदस्य और 28 अन्य (18 प्रखण्ड-प्रमुख, सात विधायक, तीन सांसद–राँची, खूँटी, लोहरदगा) सदस्य हैं। बैठक में 43 सदस्यों की उपस्थिति जरूरी थी, 22 सदस्य शामिल हुए। अविश्वास प्रस्ताव पर हस्ताक्षर करने वाले 8 सदस्य भी नहीं आये।
- जिला राँची, प्रखण्ड एवं थाना-रातू, गाँव काठीटाँड़ की एक लड़की की शादी ओरमाँझी थाना के जिराबाईर गाँव के एक सजातीय लड़के से पारिवारिक पहल एवं धार्मिक रीति-रिवाजों के साथ 13 मई को हुई। लेकिन लड़की दूसरे लड़के से प्रेम करती थी। इसलिए वह 29 मई को ससुराल से प्रेमी के पास

चली गयी। पति ने काठीटाँड़ के ग्राम-पंचायत रातू पूर्वी के मुखिया के पास आवेदन दिया। 31 मई को मुखिया, वार्ड-सदस्य एवं गणमान्य लोगों की कमिटी बैठी। लड़की और प्रेमी ने आपसी प्रेम स्वीकारा। पति ने इसे देखते हुई शादी का विच्छेदनामा पत्र बनाने की बात कही। पंचों ने प्रेमी से 51 हजार रुपये का जुर्माना लड़की के पिता को देने को कहा, जिससे शादी के आयोजन के खर्च की भरपाई हो। पति को उपहारस्वरूप मिली सामग्री को लड़की के पिता को लौटाने को कहा। तीनों पक्षों ने फैसले को स्वीकार किया। प्रेमी ने 12 महीने में किश्तों में जुर्माना भरने का वादा किया। सभी की सहमति से लड़की की शादी चिन्ताहरण शिवमन्दिर में प्रेमी के साथ करा दी गयी। पंचायत भी उसी मन्दिर में हुई थी।

रातू पूर्वी के मुखिया जितेश्वर मुंडा, जिनकी पहल पर यह फैसला हुआ, कहते हैं कि उन्होंने ढाई साल में 50 मामलों का निबटारा किया है और 15 मामले उनके पास विचाराधीन हैं।

- देवघर के मानिकपुर पंचायत के मुखिया संजय शर्मा कहते हैं कि हर सुबह की शुरूआत पंचायत से होती है। मानिकपुर पंचायत (पंचायत देवघर जिला) में घर की जमीन के विवाद पर मुखिया की पहल पर पंचायती और अमीन द्वारा जमीन मापी हुई। पंचायती के आधार पर समझौता-पत्र बना जिसे कोर्ट ने स्वीकार कर लिया।
- देवघर जिला की भिखना पंचायत के दासडीह गाँव में एक परिवार में भूमि विवाद था, पीड़ित पक्ष थाना गया। थाने की ओर से मुखिया के पास जाने की सलाह मिली। पंचायत ने अमीन लाकर जमीन का बराबर बँटवारा का फैसला दिया। दोनों पक्ष अब विवादमुक्त हैं।
- राँची जिले के नामकुम प्रखण्ड की आरा पंचायत की मुखिया दयामनी एक्का ने व्यवस्था की गड़बडी के कारण कुछ न कर पाने के अहसास के साथ इस्तीफा दे दिया। इस प्रखण्ड की रामपुर पंचायत के पंचायत-समिति सदस्य राजेश कच्छप के साथ टाटीसिलवे थाना-प्रभारी ने थाना-परिसर में मारपीट की। इन घटनाओं के विरोध में पंचायत-प्रतिनिधियों ने प्रदर्शन निकाला, राजभवन पहुँचे और सभा की।
- सारंडा, कोल्हान व पोड़ाहाट में मुंडा-मानकी व्यवस्था है। पश्चिमी सिंहभूम के मनोहरपुर प्रखण्ड के 187 गाँव में यह व्यवस्था लागू है। 83 गाँव खास गाँव के रूप में जाने जाते हैं। सात वनग्रामों में भी यह व्यवस्था लागू है। पूरे मनोहरपुर में तीन मानकी हैं। इन्हें प्रत्येक माह 1500 रु. मिलता है। ...जमीन की मालगुजारी की वसूली मुंडा करता है। जमीन-विवाद, बन्दोबस्ती, दाखिल

खारिज में भी मुंडा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। प्रत्येक मुंडा को एक हजार रु. बतौर मानदेय दिया जाता है। सन 2000 में मुंडा-मानकी के मानदेय में वृद्धि की गयी थी। उसके पहले यह महज 75 रु. था। डाकुआ को 500 रु. मानदेय मिलता है। मानकी-मुंडा प्रखण्ड समिति के अध्यक्ष संजय किशोर सिंहदेव का कहना है कि पंचायती राज व्यवस्था कायम होने के बाद मुंडा-मानकी पारम्परिक व्यवस्था का हनन हो रहा है। ग्राम-सभा की अध्यक्षता करने के लिए सिर्फ मुंडा नामित होता है। मुखिया द्वारा स्वयं ग्राम-सभा आयोजित की जा रही है और ग्राम-सभा में मुंडा को रबड़ स्टाम्प के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। सारंडा पीड़ के मानकी लागुड़ा देवगम ने कहा कि मनोहरपुर क्षेत्र में आधे से ज्यादा की संख्या में मुंडाओं का पद खाली है। हालाँकि मुंडा-मानकी व्यवस्था वंशावली के साथ चलती है, पर उसकी मान्यता उपायुक्त देते हैं, ताकि मानदेय के भुगतान समेत अन्य कार्यों का निष्पादन हो।

- पश्चिम बंगाल की सीमा पर बसा पूर्वी सिंहभूम का गोपालपुर पंचायत। पंचायत के मुखिया लक्ष्मीराम मुर्मु ने ग्राम-सभा में कम उपस्थिति पर सभी 19 टोलों में बैठकें की। ग्राम-सभा की महता बतायी गयी। ग्राम-सभा में नहीं भाग लेने पर सामाजिक दण्ड लगाने का प्रस्ताव पारित किया गया। ग्राम-सभा के लिए हरेक टोलों में घण्टा बजा दिया जाता है, ग्राम-सभा के बैठक की सूचना दी जाती है। अब ग्राम-सभा में बड़ी संख्या में स्त्री-पुरुष भाग लेते हैं। ... गोपालपुर पंचायत ने हर रविवार श्रमदान करने का निर्णय लिया। श्रमदान से दो पुल, एक सड़क बनायी गयी है। इसके अलावे मिदनापुर (बंगाल) को जोड़ने वाले नाले पर बाँस की पुलिया बनायी गयी। इससे बंगाल के स्वास्थ्य उपकेन्द्र की दूरी 30 किलोमीटर कम हो गयी। वे मात्र 3 किलोमीटर चलकर पं. बंगाल के स्वास्थ्य उपकेन्द्र में इलाज करा लेते हैं। बंगाल के हाट में जाकर सब्जी बेच आते हैं।
- जामताड़ा जिला-परिषद के अध्यक्ष पुष्पा सोरेन के खिलाफ 25 सितम्बर, 2013 को नौ सदस्यों ने सरकारी गाड़ी का राजनीतिक कार्यों में उपयोग करने तथा विकास-कार्यों में कमीशन लेने के आरोप के साथ अविश्वास प्रस्ताव पेश किया। 9 अक्तूबर को अविश्वास प्रस्ताव पारित हो गया। प्रस्ताव के पक्ष में 17 और विरोध में एक मत पड़ा। वर्ष 2012 में भी उनके खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव आया था। 6 अगस्त 2012 को हुए मतदान में जिप-अध्यक्ष कुरसी बचाने में सफल रही थीं। 9 अक्तूबर 2013 के मतदान में विधायक विष्णु प्रसाद भैया, विधायक सह विधानसभा-अध्यक्ष शशांक शेखर भोक्ता और विधायक सत्यानन्द झा बाटुल तटस्थ रहे। सांसद शिबू सोरेन भी मतदान करने

पहुँचे थे। पर निर्णय होता देख मतदान नहीं किया। हालाँकि वे जामताड़ा-परिसदन में अन्तिम समय तक जमे रहे।

- पूर्वी सिंहभूम की पोटका पंचायत की मुखिया पानो सरदार मुखिया भी हैं और सहिया भी और गाँव के लोग मानते हैं कि वे दोनों जिम्मा ठीक तरीके से निभा रही हैं।
- राँची के अनगड़ा प्रखण्ड के दो टोलों में टोला-सभा को और प्रभावी स्वरूप देने के लिए 19 नवम्बर 2013 को पत्थलगड़ी कार्यक्रम किया गया। इसके तहत टोले या गाँव को सामाजिक मान्यता देने के लिए औपचारिक बसावट का एलान किया जाता है। प्रवेशमार्ग पर टोला और टोला-सभा के प्रधान का नाम लिखा जाता है। ये टोले हैं : नावागढ़ सोसो की पाहनटोली और बीसा पंचायत की डुमरटोली। पाहनटोली और डुमरटोली में ग्राम-सभा के एक-दो दिन पहले टोला-सभा होती है। रजिस्टर पर समस्याओं, जरूरतों और योजनाओं के सन्दर्भ में लिखा जाता है। इसकी कॉपी ग्राम-सभा की बैठक में सौंपी जाती है, उसकी रिसीविंग भी ली जाती है। इन टोला-सभाओं के बारे में राज्यपाल, पंचायती राज विभाग के प्रधान सचिव, राँची के उपायुक्त को भी लिखित सूचना दे दी गयी है। ग्राम-सभा में टोलों के मुद्दे छूट जाते थे, इस कारण टोला-सभा की शुरूआत की गयी - ऐसा नेतृत्वकारी लोग कहते हैं।
- बीते तीन सालों में (2013 तक) पंचायतों को कृषि, स्वास्थ्य, समाज कल्याण, मानव संसाधन, मत्स्यपालन एवं पशुपालन, जल संसाधन, पेयजल एवं स्वच्छता, उद्योग, खाद्य एवं आपूर्ति विभाग से सम्बन्धित अधिकार और दायित्व पंचायतों को सौंपे गये हैं।

झारखण्ड के गठन के बाद बालू उठाव से सम्बन्धित अधिकार ग्राम-सभा को सौंपा गया। 2004 में झारखण्ड लघु खनिज समानुदान नियमावली 2004 बनी। इसमें उल्लेख है कि बालूघाट जिस ग्राम-सीमा के अन्दर होगा, जिला खनन पदाधिकारी उस ग्राम-सभा को जिम्मेवारी सुपुर्द कर देंगे। ग्राम-सभा ही बालू-घाट की संचालक होगी। उसे अपने स्तर पर संविदा करने का भी हक होगा। 2011 में इस आधार पर कि ग्राम-सभा को आय नहीं हो रही है, उक्त नियमावली में संशोधन कर बालू-घाटों की बन्दोबस्ती सरकारी नीलामी द्वारा करने का प्रावधान किया गया। होनेवाली आय का 80 फीसदी ग्राम-सभा को और 20 प्रतिशत खनन विभाग को देने की बात कही गयी। इसे झारखण्ड लघु खनिज समानुदान (संशोधन) नियमावली 2010 कहा गया। फरवरी 2012 में हरियाणा के एक मामले में सुप्रीम कोर्ट के फैसले के तहत लघु खनन के लिए पर्यावरण क्लीयरेंस अनिवार्य बना दिया गया। अगस्त 2013 में नेशनल ग्रीन

ट्रिब्यूनल ने बिना पर्यावरण क्लीयरेंस वाले घाटों से बालू उठाव पर रोक लगा दी। और सरकार ने निजी कम्पनियों को बालू का ठेका देने का फैसला ले लिया। राज्य-सरकार अगर चाहती तो ग्राम-सभा को पर्यावरण क्लीयरेन्स दिलाने की व्यवस्था बना सकती थी। निजी कम्पनियों को बालू-ठेका देने के फैसलों का बड़ा विरोध हुआ। 11 दिसम्बर 2013 को सरकार ने फैसला वापस ले लिया और एलान किया कि अब बालू पर पंचायतों का अधिकार होगा।

- युनिसेफ ने विकास भारती के सहयोग से गुमला एवं सिमडेगा में 50 अगुआ पंचायत का प्रयोग शुरू किया है। गुमला एवं सिमडेगा प्रखण्ड की पाँच-पाँच पंचायतों को चुना गया है। इन पंचायतों को चाइल्ड फ्रेंडली बनाने का इरादा युनिसेफ रखता है।
- पूर्वी सिंहभूम के दक्षिण पोटका के जिला-परिषद सदस्य संजीव सरदार ने बड़डीह से दुबलाबेड़ा तक 7.5 किलोमीटर की पाँच करोड़ रु. की लागत की आई ए पी योजना के तहत सड़क का घटिया निर्माण बन्द कराकर उपायुक्त को सूचना दी। जाँच का आदेश हुआ। जाँच में खामियाँ मिलीं। ठेकेदार को सड़क सुधारने का काम करना पड़ा।
- बोकारो जिले के विभिन्न स्तरों के पंचायत-प्रतिनिधि अलग-अलग दलों से जुड़ते गये हैं। यह सिलसिला बढ़ता गया है।
- पिछले कुछ महीनों से (मई 2013) राँची जिले के चान्हों और बुढ़मु प्रखण्ड के राजस्व गाँवों में महिला ग्राम-सभा की बैठकें की जा रही हैं। ग्राम-सभा में महिलाओं की बातों को न तो सही ढंग से सुना जा रहा था और न ही महिलाएँ बेबाकी से अपनी बातें रख पा रही थीं। अन्ततः गाँवों की महिलाओं ने अपनी समझ से एक ऐसी सभा आयोजित करने का विचार किया। प्रत्येक माह 24 तारीख से पहले महिला-सभा आयोजित हो जाती है। विषयों को चयनित कर उसकी एक कॉपी ग्राम-सभा में, दूसरी कॉपी बीडीओ के पास भेजी जाती है।
- पंचायती राज विभाग, झारखण्ड-सरकार ने ज्ञापांक 2176/4. दिनांक. 21.07.2014 के जरिये पंचायतों को शक्ति प्रदान करनेवाले दस विभागों की योजनाओं को लागू करने में मुखिया की प्रभावी भूमिका घोषित की है तथा इन दस विभागों के कार्यों की प्रगति की समीक्षा की पहल को जरूरी माना है। इसके लिए 11 बिन्दुओं में आदेश जारी किया गया है :

  पहले बिन्दु में दस विभाग के पंचायत-स्तरीय अधिकारियों/कर्मचारियों की प्रतिमाह पंचायत-भवन में समीक्षा-बैठक को आवश्यक बताया गया है। योजनाओं और कर्मियों के बीच कन्वर्जेंस या समन्वय पर बल देने की बात

कही गयी है। दूसरे बिन्दु में उपविकास आयुक्त द्वारा इन बैठकों की तिथि से सम्बन्धित वार्षिक कैलेण्डर जारी करने की बात कही गयी है। साथ ही कहा गया है कि सिर्फ मुखिया ही विशेष परिस्थिति में उस तिथि को बदल सकेंगे। तीसरे बिन्दु में यह ध्यान दिलाया गया है कि एक से अधिक पंचायतों के प्रभारवाले कर्मचारियों को ध्यान में रखते हुए मासिक बैठक का कैलेण्डर बनाया जाए ताकि कर्मचारी सभी बैठकों में भाग ले सकें। इस बिन्दु में ही यह भी कहा गया है कि मुखिया की अनुपस्थिति में उपमुखिया या वरीय पंचायत-समिति सदस्य बैठक की अध्यक्षता करेंगे। चौथे बिन्दु में उन कर्मचारियों की सूची है, जिन्हें आवश्यक रूप से बैठक में भाग लेना है तथा उपस्थिति पंजी में नाम, पदनाम के साथ पूरा हस्ताक्षर करना है। पंचायत-सेवक, रोजगार-सेवक, जन-सेवक, राजस्व-कर्मचारी, सहिया, कोऑर्डिनेटर, एएनएम, जल सहिया कोऑर्डिनेटर, कृषक मित्र कोऑर्डिनेटर, सम्बन्धित एनजीओ, आंगनबाड़ी-सेविका, कलस्टर-कोऑर्डिनेटर, सीआरसी, शिक्षक आदि का इस सूची में जिक्र है। पाँचवें बिन्दु में कहा गया है कि इस बैठक में पंचायत को हस्तान्तरित सभी विभागों के कार्यक्रमों खासकर फ्लैगशिप कार्यक्रमों के शिकायतों और कठिनाइयों के निवारण पर चर्चा होगी। इन योजनाओं के समन्वय की सम्भावना पर विचार की सलाह भी यहाँ दी गयी है। छठे बिन्दु में ऐसे विभाग से सम्बन्धित मामलों पर जिला या अनुमण्डल स्तर पर पदाधिकारियों को लिखित सूचना देने की बात कही गयी है, जिनके पंचायत-स्तरीय कर्मचारी नहीं हैं। ऐसे पदाधिकारी पंचायत को कार्यवाही की जानकारी देंगे— यह बात कही गयी है। सातवें बिन्दु में कहा गया है कि बगैर पर्याप्त कारण अनुपस्थिति और बैठक के निर्देश का समय पर पालन नहीं करना अनुशासनहीनता मानी जाएगी और मुखिया के प्रतिवेदन पर उस पर अनुशासनात्मक कार्रवाई हो सकेगी। आठवें बिन्दु में कहा गया है कि प्रखण्ड विकास पदाधिकारी, प्रखण्ड पंचायत राज पदाधिकारी, पंचायत राज के सहायक निदेशक एवं उपनिदेशक प्रभावशाली बैठक आयोजित करने के जिम्मेवार होंगे। नौवें बिन्दु में कहा गया है कि इन बैठकों की कार्यवाही की कम्प्युटर से टंकित प्रतिलिपि नेशनल पंचायत पोर्टल पर अपलोड की जाएगी। दसवें बिन्दु में कहा गया है कि पंचायत-स्तरीय समीक्षा-बैठक का प्रभावशाली क्रियान्वयन नहीं करने पर सम्बन्धित मुखिया पंचायती राज अधिनियम की धारा-30 के अन्तर्गत कार्रवाई के लिए जिम्मेवार होंगे। विभाग के कर्मियों के लिए कहा गया है कि बैठक में अनधिकृत अनुपस्थिति और निर्देशों की अवहेलना सरकारी सेवक आचार नियमावली की धारा-3 का उल्लंघन माना जाएगा।

यहाँ गौरतलब है कि पंचायती राज अधिनियम की धारा-30 में मुखिया-उपमुखिया को कदाचार, कर्तव्य अवहेलना में हटा दिये जाने तक का प्रावधान है।

- झारखण्ड-सरकार के पंचायती राज विभाग के निदेशक की ओर से पंचायती राज संस्थाओं को सौंपे गये शक्तियों के बारे में दिशा-निर्देश जारी किया गया है। पत्र की प्रतिलिपि सभी उपविकास आयुक्तों को प्रेषित की गयी है।

इस निर्देश में जिला-परिषद, पंचायत-समिति एवं उनकी विविध समितियों की बैठक में सभी सम्बन्धित पदाधिकारियों को प्रतिवेदन के साथ शामिल होने और सभी समितियों के साथ पूर्ण सहयोग की बात कही गयी है। अनुपस्थिति को कर्तव्यहीनता मानने की बात कही गयी है।

इस पत्र में स्पष्ट कहा गया है कि नियमित रूप से नियमानुसार बैठक बुलाना और कार्यवाही पंजी में अंकित करना पंचायत-सचिव/उपविकास-आयुक्त की जिम्मेवारी है। अगर लिखित अनुरोध के बाद भी पंचायत-प्रतिनिधि रुचि नहीं लें तो इसकी रिपोर्ट तत्काल सरकार को भेजी जानी चाहिए।

सरकार के द्वारा आयोजित विभिन्न कार्यक्रमों और समारोहों में सम्बन्धित पंचायती राज प्रतिनिधियों को आमन्त्रित करने और उनके बैठने की समुचित व्यवस्था करने का निर्देश दिया गया है। पूछे जाने पर त्रिस्तरीय पंचायती राज प्रतिनिधियों को सरकारी आदेश, नियम, कार्यक्रम, योजना की समझने लायक जानकारी देने और बैठकों में बिना पूछे भी सरकारी कार्यक्रमों की जानकारी देने की बात कही गयी है।

कार्यक्रमों/योजनाओं/बैठकों में पर्याप्त रुचि और भागीदारी नहीं करने पर पंचायत-प्रतिनिधियों से लिखित अनुरोध करने, उन्हें प्रेरित करने की बात कही गयी है। योजनाओं के चयन में गाँव, पंचायत या क्षेत्र विशेष की उपेक्षा न करने की बात कही गयी है।

पंचायत-स्तर के औसतन पन्द्रह पदधारकों का हवाला देते हुए उनकी जिम्मेवारी बतायी गयी है कि पंचायत-भवन अनवरत कार्यालय के रूप में क्रियाशील रहे। ऐसा न होने पर मुखिया और सम्बन्धित सरकारी कर्मचारी को जिम्मेवार मानने की बात कही गयी है।

सामान, साधनों के समुचित जगह पर सदुपयोग की बात कही गयी है। उनके निजी उपयोग को दुरुपयोग की श्रेणी में माना गया है। पंचायत-स्तर के कर्मचारियों के कार्यों का नियन्त्रण एवं निगरानी पंचायत-स्तर पर सुनिश्चित करने की बात कही गयी है और मुखिया के आदेशों का उल्लंघन करने वाले

कर्मचारी के विरुद्ध नियमानुसार कार्यवाही की बात की गयी है।

मुखिया, प्रमुख या जिला-परिषद अध्यक्ष से अवकाश की स्वीकृति जिन अधिकारियों या कर्मियों को लेना है, वे इनके कार्यालय में अनुपस्थित रहने पर उपविकास आयुक्त/बीडीओ/पंचायत-सेवक को आवेदन समर्पित करेंगे।

प्रत्येक माह की 28 तारीख तक उपस्थिति विवरणी, नियन्त्री, निकासी, व्ययन पदाधिकारी को उपलब्ध नहीं कराये जाने पर वेतन का पूरा भुगतान कर देने की बात कही गयी है। मुखिया की अनुपस्थिति में उपमुखिया को पंचायत-समिति द्वारा अनुपस्थिति विवरणी पर हस्ताक्षर करने की बात कही गयी है।

इन नियमों के पालन की जिम्मेवारी डीडीसी, पंचायती राज पदाधिकारी, बीडीओ और प्रखण्ड पंचायत राज पदाधिकारी को दी गयी है। गैरजिम्मेवार सरकारी सेवक पर आचार नियमावली की धारा 3 और पंचायत प्रतिनिधि पर झारखण्ड पंचायती राज अधिनियम की धारा 30 के तहत कार्रवाई होगी।

(उपरोक्त सारे उद्धरण एवं प्रकरण राँची से प्रकाशित साप्ताहिक समाचार पत्र "पंचायतनामा" के सितम्बर 2012 से लेकर अगस्त 2014 तक के अंकों से लिये गये हैं।)

●

पंचायती प्रतिनिधियों, अधिकारियों और सरोकारी बौद्धिकों के जाहिर अहसास

पंचायती राज प्रतिनिधियों और अधिकारियों के बोल

उपप्रमुख, तोरपा, खूँटी : अनिल भगत– त्रिस्तरीय पंचायत में ग्राम-पंचायत में मुखिया, पंचायत-समिति में प्रमुख, जिला-परिषद में अध्यक्ष को ही सरकारी तन्त्र तरजीह दे रहा है। वार्ड-सदस्य, पंचायत-समिति सदस्य, जिला-परिषद सदस्यों को कोई क्यों नहीं पूछ रहा है? पाँचवी अनुसूची क्षेत्र में ग्राम-प्रधानों/कोषाध्यक्षों की भी कोई पूछ नहीं है। ... तीनों ही स्तर के मुखिया या अध्यक्ष विकास-कार्यों/फण्डों को अपने तक ही सीमित रखना चाह रहे हैं। उनके द्वारा सभी सदस्यों के बीच कार्यों का बँटवारा नहीं किया जा रहा है। जबकि नियमानुसार तीनों स्तर पर विभिन्न स्थायी समितियों का गठन हो चुका है। स्थायी समितियों में अध्यक्षों और सदस्यों का चुनाव हो चुका है।... सरकारी तन्त्र अपनी पुरानी शैली को छोड़ना नहीं चाह रहा है। ... ग्राम-सभा की बैठक की सूचना जनता को सही ढंग से नहीं दी जाती। घर-घर जाकर हस्ताक्षर, अंगूठे का निशान लेकर कार्य करने की शैली भी मुखिया सीख गये हैं।... तेरहवें वित्त आयोग के पैसे की पूरी बन्दरबाँट की जा रही है। तभी तो कम्प्यूटर, फोटो कॉपी मशीन, कैमरा, साउण्डलेस जेनरेटर सिर्फ कमीशनखोरी के कारण खरीदे गये हैं। पंचायत-भवन नहीं रहते भी इनकी खरीदारी की गयी है। ...उपस्करों की खरीद में ग्राम-सभा की भागीदारी नहीं है। ... कुछ पंचायतों में शायद ही अब तक जेनरेटर स्टार्ट भी हुआ होगा। ... वित्तीय नियमों की हर जगह धज्जियाँ उड़ायी जा रही हैं। ... लेकिन कोई भी सभा/बैठक में पूछा जाए तो सिर्फ एक रोना रोते हैं कि हमें पावर चाहिए, अपने मन से कुछ करने के लिए पैसा चाहिए। इनको ट्रेनिंग की आवश्यकता है, जन-सहभागिता एवं पारदर्शितापूर्वक कार्य करने की आवश्यकता है। सामूहिक निर्णय की आवश्यकता है।

चियांकी पंचायत (डालटनगंज) की महिला मुखिया– मनरेगा का अधिकार शुरू से है, पर आज भी पंचायतें अपने दम पर मनरेगा की एक भी योजना पास नहीं करा पातीं। उन्हें सिर्फ प्रस्ताव बनाकर भेजना होता है। मिड डे मील में मेनू का पालन करवाने में भी काफी कठिनाई हुई। बी.आर.जी.एफ. फण्ड का पैसा तय समय

से 8 महीने बाद भी अभी तक उनके खाते में नहीं आया।

हजारीबाग केरेडारी प्रखण्ड पंचायत-समिति सदस्य– हमारा काम तो बस प्रस्तावों को पास कराकर जिला भिजवा देना है।

रंका प्रखण्ड-प्रमुख, गढ़वा जिला– शिक्षा विभाग का अधिकार पंचायतों को मिला हुआ है पर एक भी पारा शिक्षक छुट्टी स्वीकृत कराने मुखिया के पास नहीं जाता, जबकि शिक्षकों का भुगतान भी मुखिया के जरिये होता है। आज तक मुझे कृषि विभाग के किसी कार्यक्रम नहीं बुलाया गया, न ही विभाग की किसी योजना के बारे में जानकारी दी गयी। हमारा काम सिर्फ 13वें वित आयोग की राशि को खर्च करवाना रह गया है।

जिप-उपाध्यक्ष, देवघर– अधिकार हस्तान्तरण में प्रतिनिधियों को सिर्फ अनुशंसा का अधिकार दिया गया है ... अधिकार के बाद भी सरकारी पदाधिकारी और कर्मचारी हमारी नहीं सुनते, इसका कारण है कि हम उन पर कार्रवाई नहीं कर सकते। हमें दण्ड देने का अधिकार मिलना चाहिए। जिन विभागों का अधिकार हमें दिया गया, उन विभागों की जिलास्तरीय स्थापना-समिति के अध्यक्ष अभी भी उपायुक्त ही हैं। पेयजल एवं स्वच्छता विभाग की नयी अधिसूचना के मुताबिक 50 लाख रु. तक की योजनाओं की प्रशासनिक स्वीकृति का अधिकार जिला-परिषद को है। लेकिन निविदा-निष्पादन का सिस्टम और अधिकार हमारे पास नहीं है। जिला ग्रामीण विकास अभिकरण का विलय जिला-परिषद में होने की बात पंचायत कानून में हैं। झारखण्ड-सरकार ने विलय नहीं करने का निर्णय लिया है। विलय न हो, ठीक है। डीआरडीए का अध्यक्ष तो जिला-परिषद अध्यक्ष को ही बनना चाहिए। अभी तो उपायुक्त ही डीआरडीए के अध्यक्ष हैं। स्कूलों और आँगनबाड़ी केन्द्रों का निरीक्षण जिला-परिषद के हाथ है। जिला-परिषद की बैठक में पारित प्रस्ताव पर अमल नहीं होता है। पदाधिकारी अमल के बन्धन से मुक्त हैं। पदाधिकारी तो बैठकों में आना भी मुनासिब नहीं समझते। जिला शिक्षा अधीक्षक, जिला उद्योग पदाधिकारी भी बैठक में नहीं आते। सरकार को लिखा गया है, पर कोई कार्रवाई नहीं हुई है।

पलामू जिप सदस्य– सांसद-विधायक जिलास्तरीय बैठक में नहीं आते - उनके प्रतिनिधि आते हैं। माडा की बैठक (आदिवासी कल्याण) में सांसद और विधायक के प्रतिनिधि शामिल हुए, जिप-सदस्यों को नहीं बुलाया गया।

सिंहभूम जिला-परिषद अध्यक्ष अनीता सुम्बरई–...जिले की 216 पंचायतों में कितने पंचायतों का अपना भवन है, इसकी सूची अबतक मुझे नहीं दी गयी है। ... एक भी बीडीओ नहीं चाहते कि मुखिया या प्रखण्ड-प्रमुख उनसे कोई जवाब-तलब करे या उन पर शासन करे। ब्यूरोक्रेट पूरी तरह हावी हैं। दो वर्ष हो गये चुनाव के, लेकिन बीडीओ पंचायत-प्रतिनिधियों के अधिकार को स्वीकार करने के लिए

अब तक तैयार नहीं हो सके। बैठकों में अपनी ही मनमानी करते हैं। ... मुखिया अपने क्षेत्र की समस्याओं को सूचीबद्ध करें। लिखित रूप से प्रखण्ड-प्रमुख को दें। प्रखण्ड-प्रमुख सभी पंचायतों की समस्याओं और शिकायतों को सूचीबद्ध कर जिला-परिषद को दें। ...हम जब लिखित रूप से काम करेंगे तो अधिकारियों को नकारने का मौका नहीं मिलेगा। ...मैं चाहती हूँ कि माह में कम से कम एक बार सभी पंचायतों की समस्याएँ सूचीबद्ध करते हुए उन पर अधिकारियों के रवैये का प्रतिवेदन तैयार कर सरकार के पास भेजा जाए, ताकि अधिकारियों के मन में भय पैदा हो। अधिकारी जवाबदेही को समझें।

गिरीडीह जिला-परिषद अध्यक्ष मुनिया देवी– ... तकलीफ है कि अधिकार मिला, किन्तु शक्ति नहीं मिली। दफ्तरों में बाबुराज है। ... लाल कार्ड, वृद्धा पेंशन, इन्दिरा आवास जैसी चीजों के लिए जरूरतमन्द भटक रहे हैं। ... विडम्बना है कि विकास में राजनीति हो रही है। जरूरत की बजाय वोट से लोग इसका वजन कर रहे हैं। ऐसे में जरूरतमन्द पिछड़ रहे हैं।

राँची जिला-परिषद अध्यक्ष सुन्दरी तिर्की– साल भर में आठ बैठकें हुईं। कई महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये। जिला-परिषद की सम्पतियों को जिला-परिषद को हस्तान्तरित करने की प्रक्रिया शुरू हुई। नगड़ी एवं हटिया में मार्केट कॉम्पलेक्स बनाने का निर्णय लिया गया। ... हर बैठक में हर विभाग के कार्यों की समीक्षा हुई। इससे अधिकारी सतर्क हुए हैं। लापरवाही कम हुई है। ... जिले के विकास के लिए सरकार की सोच में बदलाव सबसे जरूरी है। ... सरकार अपना नजरिया बदले और पंचायतों को सबसे पहले अधिकार दे। पूर्ण अधिकार दे।

गढ़वा जिप-अध्यक्ष सुषमा मेहता– अधिकारी पंचायत-प्रतिनिधियों को तरजीह नहीं देते हैं। सरकार को यह खाई पाटनी होगी। सरकार से सीधी वार्ता का अधिकार मिले।

पाकुड़ जिप-अध्यक्ष गेमीलीना सोरेन– राज्य-सरकार द्वारा योजनाओं के निष्पादन में ढिलाई बरती जा रही है। इसमें हस्तक्षेप हो, कार्यों में गति आये। स्वास्थ्य, विद्युत की सुविधाएँ दुरूस्त हो जाएँ तो जिले के विकास की गति तेज हो जाएगी। ... ग्राम-सभा को सशक्त करें। ग्राम-सभा की माँगों के अनुरूप जिले के लिए योजना तैयार करें।

लातेहार जिप-अध्यक्ष पूर्णिमा सिंह– जिले में प्रतिनिधियों और अधिकारियों के बीच तालमेल का अभाव दिखा। ... सरकारें हमारे साथ सहयोगात्मक रवैया रखें। ... चुनौतियों और संघर्ष के रास्ते ही इस व्यवस्था में जनता के अधिकारों को दिलाया जा सकता है।

धनबाद जिप-अध्यक्ष माया देवी– अधिकार नहीं मिलने से काम प्रभावित

हुआ। ... नवनिर्मित 522 दुकानों के आवंटन के लिए आवेदन मँगाया गया। नियमित आमदनी के लिए पुराना बाजार में मॉल बनवाने, सर्किट हाउस के पास जिला परिषद के बंगले को रिसॉर्ट में बदलने का निर्णय लिया गया। कई विवाह-मंडप बनाये गये ... जिला-परिषद की कार्य-संस्कृति में बदलाव लाना पहला काम है .. भ्रष्ट एवं सुस्त अधिकारियों पर लगाम लगानी है। नियम के अनुसार कम से कम 14 विभाग जिला-परिषद के अधीन रहने चाहिए, अभी मात्र पाँच विभाग ही हैं ... केन्द्र-सरकार जल्द से जल्द डीआरडीए को जिला-परिषद के नियन्त्रण में करवाने की पहल करे ... राज्य सरकार अन्य विभागों की तरह जिला परिषद को भी मदद करे। परिषद 20 से 25 प्रतिशत राशि देगी पर बाकी राशि राज्य सरकार को उपलब्ध करानी होगी।

बोकारो जिप-अध्यक्ष मिहिर सिंह चौधरी– सात नये प्रखण्ड बनाने का प्रस्ताव पारित कर राज्य-सरकार को भेजा गया है। ... केन्द्र-सरकार पंचायत के लिए फण्ड आवंटित करती है, लेकिन राज्य-सरकार अनुपालन नहीं करती है। पंचायत के विकास के प्रति राज्य-सरकार जवाबदेह नहीं दिख रही है। पंचायत-प्रतिनिधियों को हक और अधिकार के लिए एकजुट होने की जरूरत है ... राज्य से अधूरे अधिकार मिले हैं।

दुमका जिप-अध्यक्ष पुलिस नाथ मरांडी– 2012-13 के लिए अब तक बीआरजीएफ, मद से फण्ड नहीं मिलने का अफसोस है। विभिन्न पंचायतों से मिले प्रस्ताव के अनुरूप इस वर्ष के लिए 446 करोड़ रु. का प्रस्तावित बजट तैयार किया गया था। इसे 34 करोड़ रु. के स्तर पर लाना पड़ा ... 11 महीने से कर्मियों का भुगतान नहीं हुआ है। यह स्थिति बदले। पंचायती राज में ग्राम-सभा सर्वोपरि है। इसके लिए हमलोगों को ग्राम-सभा को सशक्त और पारदर्शी बनाना होगा। महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करनी होगी।

जामताड़ा जिप-अध्यक्ष पुष्पा सोरेन– 50 दुकानों का निर्माण कार्य अभी प्रारम्भ हुआ है। शेष 350 दुकानों के निर्माण का भी लक्ष्य रखा गया है। ... पंचायतों में पानी टैंकर लगाने की व्यवस्था की गयी है। टॉल टैक्स वसूलने का प्रावधान किया गया। ... केन्द्र एवं राज्य-सरकारों से अपेक्षा है कि वे नियमानुसार जिला-प्रशासन पर नियन्त्रण रखकर विकास की गति तीव्र करने में सहयोग करें। ... शिकायत करने पर दोषी कर्मियों पर कार्रवाई करें। फण्ड देने में कोताही न बरतें।

साहिबगंज जिप-अध्यक्ष रामकृष्ण सोरेन– ...पंचायती राज प्रतिनिधि योजनाओं का चयन दूरगामी लाभ के लिए करें। ....पूर्ण रूप से योजनाओं का चयन ग्राम-सभा और प्रत्येक व्यक्ति की भागीदारी से सुनिश्चित करें। यहाँ राज्य-सरकार केरल की तर्ज पर पंचायती राज प्रतिनिधियों पर भरोसा करे। गड़बड़ी करने वाले को सीधे

जेल भेजे। अन्तिम व्यक्ति तक लाभ पहुँचाने के लिए जिला-प्रशासन बिना दखल सम्पूर्ण सहयोग करे।

पलामू जिप-अध्यक्ष अनिता देवी– आज यदि पंचायती राज व्यवस्था से अपेक्षित बदलाव गाँव-समाज में नहीं दिख रहा है तो इसका एक कारण पंचायत प्रतिनिधियों में एकता का अभाव भी है।

पूर्वी सिंहभूम जिप-अध्यक्ष सोनिया सामन्त– ... डुमकाकोचा और कादोहा में महिला-समूहों को आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनाने के लिए दोना-पत्तल, प्लेट बनाने की मशीन उपलब्ध करायी गयी। घाटशिला विधानसभा क्षेत्र में करीब 200 महिला-समूहों को 10-10 हजार रु. की सीड्स मनी उपलब्ध करायी गयी। ... मानव विकास सूचकांक में पूर्वी सिंहभूम को आगे ले जाने का लक्ष्य है। ... जिले की पंचायती राज व्यवस्था के प्रतिनिधि प्रत्येक गाँव में ग्राम-सभा की बैठक करें और उसी में विकास योजनाएँ बनाएँ।

सरायकेला- खरसवाँ जिप-अध्यक्ष शकुन्तला महाली– ... मेरी कोशिश होगी कि जिले के हर प्रखण्ड में एक अंगरेजी स्कूल खुले ताकि बच्चों की अंगरेजी शिक्षा सुधरे। ... राज्य-सरकार क्षेत्र के विकास के लिए अधिक से अधिक फण्ड मुहैया कराये।

देवघर जिप-अध्यक्ष किरण कुमारी– जिला-परिषद की राजस्व-वृद्धि के लिए सारठ एवं जसीडीह में मार्केट कॉम्पलेक्स का निर्माण कराया गया। घोरमारा और सारठ के ऐतिहासिक डाकबंगलों की मरम्मत करायी गयी। बीआरजीएफ से जिले के 192 आंगनबाड़ी केन्द्रों को स्वीकृति दिलायी गयी। वर्ष में 19 बैठकें हुईं। ... पंचायती राज व्यवस्था से तैयार होनेवाले बजट के लिए सरकार से समय पर राशि मिले। ग्राम-सभा की तय की गयी योजनाओं को सरकार हरी झण्डी दे और ऊपर से योजनाएँ नहीं थोपी जाएँ। ...ग्रामीण अभिकरण को जिला-परिषद के पास हस्तान्तरित किया जाए। सरकार ऐसे नीतिगत मामलों में शीघ्र निर्णय ले। ... पंचायती राज प्रतिनिधि आपसी तालमेल से काम करें। ....वार्ड-सदस्य से लेकर जिप-सदस्य तक तालमेल बैठाएँ और मिलकर अपने पंचायत के विकास का खाका तैयार करें। इसमें वह हर चीज शामिल होनी चाहिए जो लोगों की मूल आवश्यकताओं से जुड़ी है। पंचायती राज प्रतिनिधि हर छोटे-बड़े फैसले ग्राम-सभा में ही लें। ग्राम-सभा में तय की गयी चीजें सरकार भी रद्द नहीं कर सकती।

कोडरमा जिप-अध्यक्ष महेश राय– ... अधिकारियों का असहयोगात्मक रवैया रहा है, उसके बावजूद हमलोगों ने बेहतर करने की कोशिश की है। ... जनता के पैसों का अगर सदुपयोग नहीं होगा, तो हम फिर से आन्दोलन चलाएँगे। ... प्रशासन के रवैये में बदलाव आए। अधिकारी हमारे साथ सहयोगात्मक रवैया रखें।

लोहरदगा जिप-अध्यक्ष जयवन्ती भगत– ... फिलहाल दो विभाग मिले हैं। उम्मीद है कि सभी 29 विभाग जिला-परिषद के अन्तर्गत आएँगे। ...पंचायती राज प्रतिनिधि ग्राम-सभा की योजनाओं को लेकर चलेंगे तो निश्चित लाभ होगा। जनप्रतिनिधि सोच बदलेंगे तो पंचायत-क्षेत्र का विकास होगा। केन्द्र-सरकार की 20 योजनाएँ धरातल पर चलती हैं। उनकी बेहतर निगरानी से लाभ होगा।

हजारीबाग जिप-अध्यक्ष ब्रजकिशोर जायसवाल– ... प्रशासन एवं सरकार के बीच समन्वय स्थापित करते हुए काम करें।

गोड्डा जिप-अध्यक्ष कल्पना देवी– ... शिक्षा के अधिकार के तहत पहाड़िया जनजाति के बीपीएल रेखा से नीचे के बच्चों के बीच शिक्षा पहुँचाने का लक्ष्य रखा गया है। पंचायत राज प्रतिनिधि गाँव के विकास पर ध्यान दें।

गिरिडीह जिप-अध्यक्ष मुनिया देवी– विभिन्न प्रखण्डों में मार्केटिंग कॉम्पलेक्स के निर्माण, पैक्स-गोदाम का निर्माण, जिप-कार्यालय की मरम्मत आदि निर्णय लिये गये हैं। ... विकास-कार्य को जमीन पर उतारने के लिए जनप्रतिनिधि, प्रशासन एवं सरकार के बीच समन्वय स्थापित करेंगे।

खूँटी जिप-अध्यक्ष मायलिना टोपन्नो– अफसर ही नहीं, क्लर्क भी उपेक्षा करते हैं। जिला-परिषद के पास आने वाले पत्र उसके मुख्य कार्यपालक पदाधिकारी डीडीसी एवं जिला अभियन्ता के नाम से होते हैं। मुद्दों, समस्याओं, योजनाओं पर चर्चा होती है, अनुशंसा और निर्देश भी जारी किये जाते हैं, पर अमल नहीं हो पाता।

...अब डीआरडीए के संवेदकों को लाइसेंस जिप-कार्यालय से मिलेगा। ... पंचायती राज प्रतिनिधि जनता के चुने हुए प्रतिनिधि हैं। जनता के प्रति समर्पित होकर उनके हित की योजनाओं में काम करें। ... गाँव के विकास के लिए पंचायतों को अधिक से अधिक अधिकार मिले। जिले के विकास के लिए प्रतिनिधियों एवं अधिकारियों के बीच समन्वय बने।

रामगढ़ जिप-अध्यक्ष शान्ति सोरेन– वर्ष 2012 में हम हजारीबाग से जिला-परिषद की शक्तियों का बँटवारा करने में सफल रहे। ... जिले के सभी पंचायत-प्रतिनिधि जनता से सहयोग लें और मतभेद से ऊपर उठकर जिले के विकास के लिए प्रयास करें।

चतरा जिप-अध्यक्ष ममता देवी– 13वें वित आयोग से चतरा डाकबंगला, इटखोरी डाकबंगला, सिमरिया डाकबंगला की मरम्मत और चारदीवारी का निर्माण करवाया गया । जिला योजना समिति और उपसमिति सर्वसम्मति से बनायी गयी। जिप की स्थायी समिति बनी।

उत्तर-पूर्व गदड़ा पूर्वी सिंहभूम की वार्ड-सदस्य लक्ष्मी देवगम– पंचायत-चुनाव के बाद विकास-कार्यों का विकेन्द्रीकरण जरूर हुआ। पंचायत के मुखिया,

पंचायत और वार्ड-सदस्य मिलकर क्षेत्र के विकास की योजनाएँ तैयार कर रहे हैं। विकास-योजना का चयन पंचायत-प्रतिनिधि और ग्रामीण मिलकर कर रहे हैं। .... लेकिन कागजी कार्रवाई के लिए सरकारी कार्यालयों का चक्कर काटना पड़ता है। सरकार ने पंचायत-चुनाव कराकर केवल अपने बोझ को कम किया है।

केवल सड़क, नाली बनने से लोगों का विकास नहीं होता है। गाँव में गरीबी रेखा से नीचे गुजर-बसर करने वाले लोग ज्यादा हैं। मैंने सबसे पहले उनके रहने के लिए इन्दिरा आवास बनाने की पहल की।

लातेहार जिला-परिषद सदस्य पूर्णिमा सिंह– पंचायत-चुनाव हुए दो साल से अधिक हो गये, प्रतिनिधियों को न तो उनका हक मिला और न सम्मान। जिला-परिषद अध्यक्ष को अभी तक न तो सरकारी आवास आवंटित हो पाया है और न ही वाहन ।

लातेहार जिला-परिषद सदस्य रामदेव सिंह– प्रतिनिधि सिर्फ बैठकों और कार्यक्रमों की शोभा बढ़ा रहे हैं। उनके पास न तो अधिकार है और न ही संसाधन। कार्यालय के अभाव में काम नहीं हो पा रहा है।

लातेहार प्रखण्ड उप प्रमुख शम्सुल होदा– सरकार को भय है कि अगर पंचायती-प्रतिनिधियों को अधिकार दे दिया गया तो उनके कमीशन का क्या होगा।

मुखिया प्रवेश उराँव– अधिकारी हमें प्रतिनिधि मानने को तैयार नहीं। न तो बैठकों की जानकारी देते हैं और न किसी कार्यवाही की। हमें सिर्फ उद्घाटन एवं समापन-समारोह में शोभा की वस्तु बना दिया गया है।

झारखण्ड पंचायती राज सचिव राजीव अरुण एक्का– पावर तो सूचनाओं से आती है। पंचायत-प्रतिनिधि जितनी अधिक सूचनाएँ प्राप्त करेंगे, उतने ही सशक्त होंगे। ... यह अलग बात है कि सिर्फ पाँच विभागों के अधिकारों का हस्तान्तरण हुआ है। लेकिन पंचायतें कई विभागों की योजनाओं के निर्माण में भूमिकाएँ अदा करती हैं। ग्रामीण विकास और पेयजल एवं स्वच्छता विभाग ने पावर का हस्तान्तरण नहीं किया है। लेकिन इन विभागों की योजनाओं के चयन में पंचायतों की पूरी भूमिका है। ... कृषि एवं गन्ना विकास ने कार्य, निधि और कर्मचारियों पर अधिकार दिया है। ...कृषि यन्त्रों के वितरण की योजना का अनुदान अगले साल से पंचायत को जाएगा। लाभुक का चयन और सम्बन्धित लोगों को भुगतान पूर्णरूपेण पंचायत-प्रतिनिधि करेंगे। पिछड़ा क्षेत्र अनुदान कोष का पैसा सीधे पंचायतों को जाता है। राज्य जिला-परिषद को देता है। जिला-परिषद 20 प्रतिशत अपने पास रखकर 20 प्रतिशत पंचायत-समिति को और 60 प्रतिशत ग्राम पंचायत को देती है। 13वें वित आयोग से हर साल 365 करोड़ रु. के आसपास अनुदान मिलता है। यह पंचायतों की आधारभूत संरचनाओं पर खर्च होता है। मुख्य सचिव

की अध्यक्षता वाली उच्चाधिकार कमिटी के निर्णय के मुताबिक इस अनुदान से पंचायत भवनों का निर्माण हुआ है। कम्प्यूटर, टेबल, कुर्सी की खरीद इसी से होती है। इससे जिला-परिषदों के लिए आय-वृद्धि की योजनाएँ लेने का भी प्रावधान है। समाज कल्याण विभाग ने आँगनबाड़ी के रखरखाव एवं मरम्मत का अधिकार दिया है। अगले वित्तीय वर्ष से यह पैसा भी पंचायतों को मिलने लगेगा।

इतना पंचायतों के लिए काफी नहीं। हाल ही में सलाहकार-परिषद ने तीन और विभागों के हस्तान्तरण की मंजूरी दे दी है। ... यह मत भूलिए कि हमारी पंचायतें दो साल की हैं। 4,423 ग्राम-पंचायत, 259 पंचायत-समिति, 20 जिला-परिषद में 55 प्रतिशत से अधिक महिलाएँ हैं। अभी प्रतिनिधियों को पूरा प्रशिक्षण नहीं मिला है।

संविधान के 73वें संशोधन के बाद बनी अनुसूची में पंचायतों के लिए 29 कार्यों की व्यवस्था की गयी है। झारखण्ड में जो पंचायत कानून बना है उसके तहत 27 विभाग आते हैं। 10 विभागों के अधिकार हस्तान्तरण के लिए 21 फरवरी को बैठक है। इसमें खाद्य एवं आपूर्ति विभाग, पेयजल एवं स्वच्छता, ग्रामीण विकास, सामाजिक वानिकी, लघु उद्योग, सिंचाई, भूमि-सुधार आदि विभागों के अधिकार हस्तान्तरण पर निर्णय लिये जाएँगे।

पहले वित आयोग का गठन 2005 में हुआ, कार्यकाल 2009 को समाप्त हो गया। दूसरे आयोग का गठन 2009 में हुआ है। दो साल कार्यकाल बाकी है। अभी तक पंचायतों के सन्दर्भ में कोई अनुशंसा नहीं मिली है। आयोग अध्ययन कर रहा है कि वैज्ञानिक तरीके से किस प्रकार राजस्व में हिस्सेदारी मिले। ... वित आयोग की अनुशंसाएँ मिलने पर पंचायतों को राजस्व-वसूली का भी अधिकार मिल जाएगा। ....जब पंचायतों को अनुदान के साथ-साथ राजस्व में हिस्सेदारी मिलने लगेगी, पंचायतें टैक्स वसूलने लगेंगी तभी पूर्ण बजट बनेगा।

'पंचायतनामा' की सम्पादकीय टिप्पणियों से

- झारखण्ड में 50 प्रतिशत से अधिक पंचायतों के पास अपना भवन नहीं है। ज्यादातर पंचायत-भवन इस कारण नहीं बन पा रहे हैं कि ग्राम-सभा में स्थल-चयन को लेकर एक राय नहीं बन पा रही है। कई पंचायतों में मुखिया या पंचायती राज प्रतिनिधियों की इच्छा के खिलाफ बीडीओ अपनी मरजी वाले स्थान पर पंचायत भवन बनाना चाहते हैं। कई जगह ठेका लेने -देने को लेकर विवाद चल रहा है।
- गाँव में छोटी-छोटी बातों से ही कितना बड़ा बदलाव हो सकता है, इसे झारखण्ड के एक उपमुखिया से हुई मुलाकात में ठीक से समझ पाया। उनके

पंचायत में मात्र एक स्कूल है। स्कूल में शौचालय तो था पर उसमें ताला लगा रहता था। पूछने पर शिक्षकों ने कहा कि खोल देंगे तो साफ कौन करवाएगा। उपमुखिया ने प्रयास किया। ताला खुलवा दिया। स्कूल के बच्चों की एक टीम बनाकर साफ-सफाई का काम अपने हाथ में ले लिया। उपमुखिया की पहल पर दो गाँवों में बहनेवाली बरसाती नदी पर रेत की बोरी का चेक डैम बाँधा गया। गाँव में पानी का इन्तजाम हुआ।

- पंचायती राज प्रतिनिधियों से हुई बातचीत का लबोलुआब यह है कि जो अधिकार मिलने को थे, मिले ही नहीं। जिन अधिकारों को सौंप देने की गिनती गिनाई जाती है, उनका काला पक्ष यह है कि वे अधिकार अधिकारियों की मुट्ठी में बन्द हैं। प्रखण्ड से लेकर जिले तक के अधिकारी अपनी जरूरत पर अधिकारों की यह मुट्ठी खोलते हैं। फिर मनमाफिक काम करवा कर मुट्ठी बन्द कर लेते हैं। मुट्ठी बन्द करने और खोलने के फेर में पंचायती राज प्रतिनिधि परेशान हैं। परेशानी के इस दौर में पंचायती राज के सपने, चुनौती और हकीकत पर कौन बात करना चाहता है। सांसद? वे तो चाहते हैं कि पंचायती राज को सीमित अधिकार मिले। विधायक? वे तो सीमित अधिकार देने पर भी असन्तोष जाहिर करते हैं। वे चाहते हैं कि पंचायती राज रहे लेकिन दिखावटी और सजावटी।
- यह मजाक नहीं तो क्या है कि जिसे सबसे ज्यादा ताकतवर होना चाहिए था वह सबसे अधिक मायूस है। पंचायत राज व्यवस्था में वार्ड-सदस्य सबसे महत्वपूर्ण कड़ी है, पर वह सबसे अधिक परेशान है। पंचायती राज में उसकी सुननेवाला कोई नहीं। इनकी संख्या झारखण्ड में लगभग 42 हजार है। चुनाव में तो जीत गये। इसके बाद इनके जिम्मे न तो कोई काम दिया गया और न ही कोई अधिकार। पंचायत-स्तर पर समितियों का गठन होना था, इन समितियों के तहत ही पंचायत में कामकाज होना था। मुखिया से लेकर अधिकारी तक अपने हिसाब से पंचायती राज व्यवस्था को हाँक रहे हैं। झारखण्ड में हालत यह है कि वार्ड-सदस्य के खाली पदों के लिए उम्मीदवार ही नहीं मिल रहे हैं।
- पंचायती राज में अपने सपने सच होने की उम्मीद क्यों घटती जा रही है। ... गाँव के लोगों के चेहरे पर यह सवाल साफ तौर पर टँगा हुआ है कि पंचायती राज से कहाँ विकास हुआ, पंचायती राज से कहाँ भ्रष्टाचार कम हुआ। वे अपने अनुभव से यह बताते हैं कि पंचायती राज में भ्रष्टाचार के कम होने के बदले उसका विकेन्द्रीकरण हो गया है। पहले ब्लॉक तक

भ्रष्टाचार था, अब पंचायत तक। पहले कमीशन 20 प्रतिशत था, अब 40 प्रतिशत। ग्राम-सभा ठेंगे पर है। वार्ड-सदस्य हाशिये पर हैं। मुखिया अपने मुताबिक पंचायत चलाना चाहते हैं। पंचायत-सचिव अपने मुताबिक। यही हाल ब्लॉक स्तर पर है, जिला स्तर पर तो हालत और खराब है। जिला परिषद पूरी पंचायत राज व्यवस्था को अपनी मर्जी से चलाना चाहती है। .... झारखण्ड में सरकार ने पंचायती राज को कृषि समेत पाँच विभागों के अधिकार सौंपने का संकल्प-पत्र जारी कर दिया। अधिसूचना जारी हो गयी। फिर भी पंचायती राज को अधिकार हासिल नहीं हुए; क्योंकि विभागों में अधिसूचना की प्रतियाँ नहीं पहुँचीं।

जनकर्मियों एवं बौद्धिकों के प्रतिबद्ध स्वर

- मेरे हिसाब से पंचायतें तो दमन का विकेन्द्रीकरण हैं। पहले सरकारी भ्रष्टाचार और दमन की पहुँच बीडीओ तक ही थी। अब फैलते-फैलते वार्ड-सदस्यों तक पहुँच गयी। वार्ड-सदस्य खुद को लोगों का हिस्सा कम, सरकार का हिस्सा अधिक समझते हैं। चुने जाने के छह माह के भीतर मुखिया ने बोलेरो खरीद लिया। बताइए, कहाँ से बरसा यह पैसा ... ग्राम-सभा होती कहाँ है? होती है तो जनता के हितों की सुरक्षा या उसके उत्थान के लिए नहीं होती। **—दयामणि बारला**
- पंचायत-चुनाव के बाद लूट में हिस्सेदारी बढ़ गयी है। पहले सरकारी स्तर पर योजनाओं में हिस्सेदारी होती थी। अब पंचायत-चुनाव जीतने वाले उसमें हिस्सेदार हो गये हैं। **—मनोहर मोदी,** कोडरमा
- पंचायत-चुनाव का परिणाम आने के बाद जीतनेवालों और हारनेवालों के बीच आपसी विवाद बढ़ गया है। कहते हैं कि पंचायतों में विकास-योजनाओं में कमीशन की दर बढ़ गयी है। **—सन्तोष भारती,** जयनगर पश्चिम पंचायत, कोडरमा
- पंचायत-चुनाव के बाद मुखिया और पंसस (पंचायत समिति सदस्य) की मनमानी बढ़ गयी है। **—उमेश यादव,** चमगुदोखर्द, बिरसोडीह पंचायत, कोडरमा
- स्थिति अच्छी नहीं है। यूँ कहें कि पंचायतों का मुखियाकरण हो गया है। व्यक्तिवाद हावी है। सरकार या अन्य एजेंसियों से आनेवाला पत्र भी ग्राम-पंचायत के नाम सम्बोधित नहीं होता है। सब कुछ मुखिया के नाम से ही होता है। ग्राम-पंचायत से जो अनुशंसाएँ या प्रस्ताव जिला एवं प्रखण्ड कार्यालय या विभिन्न कार्यालयों में ली जाती हैं, उसमें सिर्फ मुखिया का

हस्ताक्षर ही काफी मान लिया जाता है। वे ग्राम-पंचायत की बैठक में पारित हैं या नहीं; यह देखने के लिए इससे सम्बन्धित कार्यवाही की प्रति नहीं माँगी जाती है। यह प्रावधान है कि ग्राम-पंचायत की स्थायी समितियों का नेतृत्व वार्ड-सदस्य ही करेंगे। लेकिन समितियाँ सक्रिय नहीं हैं। अधिकतर जगहों पर उनका गठन ही नहीं हुआ है। अगर कहीं गठन हुआ भी है तो नियमित बैठकें नहीं होती है। यदि बैठक हो भी जाता है तो लिए गए निर्णयों पर अमल नहीं होता है। ग्राम-पंचायत के वार्ड-सदस्यों की उपेक्षा दूर करने के लिए ग्राम-पंचायत में व्यक्ति की जगह संस्था स्थापित करनी होगी। 73वें संविधान संशोधन की मूल भावना भी लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण है, न कि प्रतिनिधि का विकेन्द्रीकरण। वार्ड-सभा की व्यवस्था हो। यह व्यवस्था हो कि जनप्रतिनिधियों की अनुशंसा जरूरी है। और उसमें सबसे पहले वार्ड से अनुशंसाएँ ली जाएँ। **—गुरजीत सिंह,** सामाजिक कार्यकर्ता

- पंचायती राज के प्रति वार्ड-सदस्यों में उत्साह की कमी के पीछे सबसे बड़ी वजह यह थी कि उन्हें अपनी मौजूदगी बेमतलब लग रही है। .... पंचायती राज व्यवस्था के दूसरे प्रतिनिधि जो अपने अधिकारों के लिए राज्य-सरकार से संघर्ष कर रहे हैं, वे भी इन्हें इनके अधिकार देने के लिए तैयार नहीं। इन्हें योजनाओं की जानकारी नहीं दी जाती। लाभुक-चयन की प्रक्रिया में इन्हें शामिल नहीं किया जाता। क्रियान्वयन में मदद नहीं ली जाती। कार्यकारिणी की बैठक को औपचारिकता में तब्दील कर दिया गया है। पंचायती राज व्यवस्था को मुखिया और पंचायत-सचिव के बीच पकने वाली खिचड़ी में तब्दील कर दिया गया है।

  पंचायती राज व्यवस्था के इन महत्वपूर्ण सदस्यों को तभी उत्साहित किया जा सकता है, जब इनकी सक्रिय भूमिका सुनिश्चित की जा सके। इसके लिए सबसे बड़ी जरूरत है— 1. कार्यकारिणी की नियमित बैठक हो 2. हर फैसले के लिए वार्ड-सदस्यों की राय ली जाए 3. योजना के क्रियान्वयन में उनकी सक्रिय भूमिका हो 4. किसी योजना के लाभार्थी के चयन के वक्त भी सम्बन्धित वार्ड-सदस्यों की राय ली जाए 5. पंचायतों की स्थायी समितियों का जल्द गठन हो, वार्ड-सदस्यों की सक्रिय भूमिका सुनिश्चित हो 6. सम्भव हो तो मानदेय की व्यवस्था हो, भत्तों का समय पर भुगतान हो 7. ग्राम-सभा की तरह वार्ड-सभा को भी संवैधानिक मान्यता दी जाए। **—पुष्यमित्र** का आलेख

- पंचायत के संविधान में जगह पाने में संविधान बनाने के बाद 43 वर्ष लग गये। नेहरू अपने सहयोगी एस.के.डे. के सहयोग से पंचायती राज संस्थाओं को मजबूत करने और उन्हें अधिकार देने के लिए काम करते रहे। लेकिन नेहरू के देहान्त के बाद एक ही झटके में पंचायती राज मन्त्रालय को समाप्त कर दिया गया।

  कुल मिलाकर देखा जाए तो देश की राजनीतिक बिरादरी हमेशा से पंचायती राज संस्थाओं को हतोत्साहित करने का काम करती रही है। संसद और विधानसभाओं में बैठे प्रतिनिधि हमेशा सशंकित रहे कि अगर स्थानीय स्वशासन की इकाइयों को मजबूत किया गया तो उनके अधिकारों में कटौती होगी।

  वर्ष 1995 में आन्ध्रप्रदेश के साद नगर में जहाँ नेहरू ने पहली पंचायत का उद्घाटन किया था, मैंने एक अध्ययन किया। इस दौरान मैंने पूछा कि आखिर पंचायतें ठीक ढंग से काम क्यों नहीं कर पा रही हैं। जवाब मिला : अधिकारी गैर-अधिकारियों को अधिकार देने के खिलाफ हैं, खासकर ग्रामीण जनप्रतिनिधियों को।

  वे राज्यस्तरीय प्रतिनिधियों के साथ साँठ-गाँठ कर चलते हैं।... नौकरशाही और राजनेताओं की मानसिकता में परिवर्तन के लिए शायद ही कुछ किया गया है। इसलिए पंचायती राज अभी भी सपना बना हुआ है। .. अगर राजनीतिक बिरादरी और चुनी हुई सरकार पंचायती राज संस्थाओं को मजबूत करे तो अधिकारी खुद-ब-खुद सही रास्ते पर चलने लगेंगे।

  —जार्ज मैथ्यु, साक्षात्कार में

- कुछ पंचायतें बेहतर काम कर रही हैं। कुछ गड़बड़ी भी हो रही है। गड़बड़ी तीन-चार स्तरों पर हो रही है। एक तो पंचायतों के प्रतिनिधियों में यह आत्मविश्वास नहीं बना है कि वे गाँव सरकार हैं। यह आत्मविश्वास उनके अन्दर आना जरूरी है। कई बार वे निजी सुख-सुविधाओं के लालच में फँस जाते हैं। सरकारी तन्त्र उन्हें मान्यता नहीं दे रहा है। पंचायतों के स्तर पर जो ढाँचा है, वह टूट गया है। पंचायत सचिवालय काम नहीं कर रहे हैं। हमारे पंचायत-प्रतिनिधियों में 10 प्रतिशत धूर्त निकल गये। वे फँसने वाली स्थिति में हैं। 25-30 प्रतिशत पंचायत प्रतिनिधि परिपक्व हैं। शेष समझ नहीं पा रहे हैं कि क्या करना है। कुछ लोग विकास की राह पर ले जाने की कोशिश कर रहे हैं। उन्हें कई जगह मान्यता भी मिली है। बहुत सारे कर नहीं पा रहे हैं, इसलिए उनके अन्दर निराशा है। ... सरकारी मशीनरी

कार्यक्रम करवाने आदि के रूप में शोपीस के रूप में इनका (पंचायत प्रतिनिधियों) इस्तेमाल कर रही है। गाँव में बैठकर प्लानिंग करवाना चाहिए। ... आप पंचायतों को सब कुछ दे दें। उनका सपोर्टिव सुपरविजन करें। इससे चीजें धीरे-धीरे बदलेंगी। **—अशोक भगत**

- कभी ग्राम-सभा की शक्ति को परिभाषित नहीं किया गया। कभी यह साफ नहीं किया गया कि पंचायती राज या पेसा एक्ट में ग्राम-सभा का क्या रोल है। उसके साथ ही गाँव को भी ठीक से परिभाषित नहीं किया गया। इस लिहाज से यह काल्पनिक बॉडी बनकर रह जाती है। ऐसे में किसी व्यावहारिक नतीजे की उम्मीद कैसे की जाए। ग्राम-सभा का कोरम पूरा नहीं होता क्योंकि लोगों को लगता नहीं है कि ग्राम-सभा कोई पावरफुल बॉडी है। ऐसे में वे ग्राम-सभा में जाने में रुचि नहीं लेते। जहाँ तक योजनाओं के अनुमोदन के लिए घर-घर रजिस्टर घुमाकर दस्तखत कराने की बात है, मुझे यह कहीं से गलत नहीं लगता। खासतौर पर अगर लोग रजिस्टर में लिखी बात को पढ़कर उसके नीचे साइन करते हैं। कर्नाटक में इसे स्वीकृति मिली हुई है। खुद जिला-प्रशासन इस प्रथा को मान्यता दे रहा है। हालाँकि यह कहीं से ग्राम-सभा का विकल्प नहीं। ग्राम-सभा में बहस होती है, लोगों की भागीदारी का अपना महत्व है। गाँव वालों को ग्राम-सभाओं का एजेण्डा खुद ही तय करना चाहिए। ग्राम-सभा भी गाँव की जरूरत के हिसाब से ही बुलाया जाना चाहिए। **—डॉ. नूपुर तिवारी**
- भारत के संविधान में गाँव की कोई परिभाषा नहीं है, जब गाँव ही नहीं तो गाँव-गणराज्य भी नहीं है। ... यह देश गांधी का, पर संविधान गांधी का नहीं। गाँव-गणराज्य को लेकर संविधान-निर्माताओं ने कोई ठोस पहल नहीं की। पंचायतों को लेकर संवैधानिक प्रतिबद्धता भी सुनिश्चित नहीं हुई।... 73वें संविधान संशोधन द्वारा त्रिस्तरीय पंचायत-व्यवस्था का प्रवाधान किया गया है। लेकिन इसमें भी कमी थी। यह कमी या तो चूक थी या फिर अधिकार के विकेन्द्रीकरण से इनकार था। इसे लागू करने की जिम्मेवारी राज्य-सरकारों पर डाल दी गयी। इसमें पंचायतों के लिए 29 विभागों के कार्य और अधिकार की चर्चा की गई, लेकिन यह केवल सूची के रूप में सीमित रह गयी। ... राज्यसत्ता को गाँव के लोकतन्त्र पर विश्वास नहीं है। उसे पंचायती राज व्यवस्था के तहत चुने जाने वाले जनप्रतिनिधियों की क्षमता और ईमानदारी पर सन्देह है। इसलिए पंचायती राज संस्थानों को अब तक 29 विभागों के कार्य और अधिकार नहीं मिले। **—आर.के. नीरद**

- ग्रामीण विकास के मद्देनजर देश के कुछ चुने हुए इलाकों में 2 अक्तूबर, 1952 को सामुदायिक विकास कार्यक्रम (कम्युनिटी डेवलपमेंट प्रोग्राम) की शुरूआत की गयी। यह कार्यक्रम अपने लक्ष्यों को पूरा करने में विफल रहा। बलवन्त राय मेहरा समिति ने यह निष्कर्ष निकाला कि जनता के बीच लोकप्रिय न होने के कारण सी.डी.पी. फेल हुआ ।इस समिति ने जनतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की अनुशंसा की। इसी के मद्देनजर 2 अक्तूबर, 1959 को प्रधानमन्त्री नेहरू के द्वारा राजस्थान के नागौर जिले में पंचायती राज व्यवस्था की शुरूआत की गयी। सरकार का वह गुट जो विकेन्द्रीकरण के पक्ष में नहीं था, इसमें बाधाएँ खड़ी करता रहा। अड़चन का पहला कदम था, जिला-स्तर पर जिलाधिकारी की अगुआई में जिला कृषि उत्पादन समिति की स्थापना। इसके बाद लघु कृषक विकास एजेंसी, सीमान्त किसान एवं कृषक मजदूर एजेंसी जैसी समानान्तर संस्थाओं का गठन पंचायती राज व्यवस्था को कमजोर करने के इरादे से किया गया। इस व्यवस्था के सुधार हेतु गठित अशोक मेहता कमिटी की अनुशंसाएँ भी बेअसर रहीं। आलम तो यह आ गया कि ग्रामीण विकास योजनाओं को संचालित करने के लिए नौकरशाहों की देखरेख में डी.आर.डी.ए. की स्थापना कर दी गयी। प. बंगाल, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश में अशोक मेहता कमिटी की अनुशंसाओं पर थोड़ा-बहुत अमल किया गया। केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण के विरोधाभास से गुजरते पंचायती राज को संविधान के 73वें संशोधन अधिनियम से नयी साँस मिली। किन्तु वर्तमान का सत्य यह है कि इस अधिनियम की अपनी सीमाएँ हैं, क्योंकि इस अधिनियम ने पंचायती राज व्यवस्था को लागू करने के तौर-तरीकों का अधिकार राज्यों को दे दिया। ...ग्राम-सभा जैसी व्यवस्था सिर्फ कागजी शब्द बनकर रह गयी। ग्राम-सभाओं की दशा आज कुछ ऐसी ही है, जैसे बच्चे का हाथ-पाँव बाँधकर कहा जाए कि जितना खेलना है खेलो। ग्राम-सभा को जो वाजिब अधिकार होने चाहिए, वे व्यावहारिक तौर पर पंचायत सचिव, बीडीओ, डीडीसी एवं डीएम/डीसी के पास हैं। ग्राम-सभा में लिए गए निर्णयों के अनुपालन का कोई विधिमान्य ढाँचा नहीं है।

  आने वाले समय में पंचायत राज प्रतिनिधियों को संगठित करने की मुहिम की जरूरत है, जो राजनैतिक दलों को इस बात पर मुहर लगाने के लिए मजबूर करे कि 73वें संशोधन में पुन:संशोधन कर पंचायती राज को पूरी तरह संविधान के अन्दर लाया जाए, ना कि उसे राज्यों के भरोसे छोड़ दिया जाय कि वह अपने हिसाब से चलाएँ। **—रंजीत निर्गुणी**

- नरेगा, आई.सी.डी.एस., सर्व शिक्षा अभियान, मिड डे मील आदि कई योजनाएँ हैं, जिनका लाभ गाँवों तक पहुँचना है। ... लेकिन मुख्य सवाल है कि क्या ये योजनाएँ या योजना मद में आवंटित किया गया धन गाँवों में पहुँच रहा है और अगर पहुँचा भी है तो क्या गाँव या ग्राम-सभा या पंचायत इस धन को अपनी मर्जी से खर्च करती है। ऐसा नहीं है। न तो यह पैसा डायरेक्टली गाँवों तक पहुँचता है, न ही इसको पहुँचाने की सरकार की मंशा ही दिखाई देती है। अधिकारों के विभाजन के सवाल पर राजनीतिक दल भी चुप्पी साधे हुए हैं और अधिकारी भी। .... कम से कम 30-40 फीसदी फण्ड को अनटायड फण्ड के तहत गाँवों को देंगे, तभी विकेन्द्रीकरण होगा। इस पैसे को गाँव, ग्राम-सभा और ग्राम-पंचायत जैसे चाहे इस्तेमाल करे। सर्व शिक्षा अभियान का पैसा ब्लॉक में जाता है, और ब्लॉक इसे पंचायतों को न देकर स्कूल मैनेजमेण्ट कमिटी को सौंपती है। इसी तरह किसी फण्ड से आया पैसा हो, डायरेक्टली पंचायतों को न पहुँचकर डिपार्टमेण्ट के अन्दर बनायी गयी समितियों के पास पहुँचता है। अर्थात सरकार-विभाग और उसकी समिति के अन्दर पूरी विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को उलझा दिया गया है। गौर करें तो पता चलता है कि कलक्टर ने बीडीओ को और बीडीओ ने विभिन्न समितियों के हाथ अधिकार देकर विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को अधिकारीतन्त्र के चंगुल में समेट दिया है। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की पूरी प्रक्रिया ही तितर-बितर होती जा रही है। केन्द्र सरकार की गठित कमिटी ने सिफारिश की कि डी.आर.डी.ए. को जिला परिषद में मिला दिया जाए। सरकार के किसी मन्त्री ने इसमें रुचि नहीं ली। ... आईएएस अधिकारियों की गिरफ्त में पूरा तन्त्र है। इनमें बहुत कम ऐसे लोग हैं जिन्हें विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया की समझ है या फिर वे जानबूझकर औपनिवेशिक शासन-तन्त्र को बनाये रखना चाहते हैं। ब्रिटेन जैसे देश में भी स्थानीय सरकार को अपने अधिकारी खुद चुनने का अधिकार है। हमारे यहाँ अधिकारियों से लेकर पंचायत-सचिव की नियुक्ति सरकार करती है। .... आज पंचायती राज में 30 फीसदी से ज्यादा सीटें रिक्त है। ... एक पंचायत एक छोटे स्तर की कम्पनी से बड़ी होती है। करोड़ो रुपये खर्च होते हैं। इसके बावजूद पंचायतों में बेहतर प्रबन्धन के लिए बेहतर अधिकारियों की नियुक्ति का कोई प्रावधान नहीं है। जिस जिला कलेक्टर को पंचायतों के काम देखने की जिम्मेवारी दी जाती है, उन्हें पंचायती राज संस्थान के काम का पूरा प्रशिक्षण नहीं दिया जाता। बमुश्किल पूरे प्रशिक्षण के दौरान एक दिन का प्रशिक्षण इस पर होता है। सबसे पहले यह होना चाहिए कि कि

जिला कलक्टर की भूमिका में बदलाव किया जाना चाहिए। कलक्टर दोहरी भूमिका में नहीं हो सकता। या तो वह नियामक हो सकता है या लागू करने वाला। आज वह दोनों भूमिका में है। पंचायत की व्यवस्था को लोकल ओम्बड्समैन के दायरे में लाना चाहिए। ...आज पंचायतों में दो करोड़ रु. या इससे भी ज्यादा रकम खर्च होती है और पूरी व्यवस्था को सचिव के भरोसे छोड़ दिया जाता है। कहीं-कहीं तो एक ही पंचायत-सचिव को एक से ज्यादा पंचायतों के कामकाज की जिम्मेवारी सँभालनी होती है। प्रत्येक पंचायत में इंजीनियर की नियुक्ति एवं ऑफिस के रखरखाव व योजनाओं की जानकारी देने, चुने हुए जन-प्रतिनिधियों को सहयोग देने के लिए प्रशिक्षित कर्मचारियों की नियुक्ति करने की जरूरत है। .... जब हम अलग-अलग विभागों के लिए अधिकारियों की नियुक्ति के समय ही अलग संवर्ग में बाँटने की प्रक्रिया की ओर बढ़ रहे हैं तो पंचायतों के लिए ऐसा क्यों नहीं किया जा सकता?.... (अभी जैसा चल रहा है) एक-दो दिनों के सेमिनार या परिचर्चा से (कर्मचारियों) को प्रशिक्षित नहीं किया जा सकता। पूरे प्रशिक्षण-व्यवस्था को संस्थागत ढाँचे में बाँधकर नियमित रूप से प्रशिक्षण दिये जाने की जरूरत है। पंचायत में चुने गये प्रतिनिधियों को यह फैसला लेने का अधिकार दें कि वे किससे सीखना चाहते हैं, किस बिन्दु पर प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहते हैं। जब तक आप एक ही तरीके से आगे बढ़ते रहेंगे, तब तक न तो विकेन्द्रीकरण आएगा और न ही पंचायतों में कौशल विकास होगा।

सवाल राजनैतिक इच्छाशक्ति का है। .... आज तक हम पंचायत पब्लिक सर्विस कमीशन का गठन नहीं कर पाये। यह व्यवस्था की जानी चाहिए कि सचिव की नियुक्ति कम से कम 5 साल के लिए हो और इन कर्मचारियों को वेतन अनटायड फंड से दिया जाए। **—टी.आर. रघुनन्दन**

(यहाँ बयानों; वक्तव्यों; आलेखों और साक्षात्कारों का संपादित-संक्षेपित अंश दिया गया है। इनके स्रोत हैं—राँची से प्रकाशित 'पंचायतनामा' के सितम्बर 2012 से अगस्त 2014 के विविध अंक।)

●

दृश्यान्तर की दिशा

रिक्तियों और विसंगतियों को दूर कर ही पंचायती संस्थानों में जान भरी जा सकती है

अनुसूचित क्षेत्रों में हो या सामान्य क्षेत्रों में; ग्राम-सभाओं और अन्य पंचायती संस्थानों की हालत खुशी और उमंग तो नहीं ही जगा पाती। ये बेजान सी हैं, निराश हैं, निष्क्रिय हैं। मूल्यों और चरित्रों की कसौटी पर क्षरणशील हैं। तुलनात्मक रूप से देखें तो प्रतिनिधियों का मनमानापन, भ्रष्टाचार, अवसरवाद बढ़ा है। गाँव की सामूहिक ताकत घटी है, उपेक्षित हुई है। ग्राम-सभा कमजोर हुई है। पंचायती राज संस्थानों से मन से जुड़े, बड़ी उम्मीद पाले बैठे, विराट एवं सकारात्मक रूपान्तरण की प्रतीक्षा में रहे लोग तो यह भी कहते मिल जाते हैं कि इससे अच्छा तो पंचायत-चुनाव के पहले ही था। पंचायत-चुनावों के बाद तो विकेन्द्रीकरण, गाँवों का सशक्तीकरण पहले से कठिन, लगभग नामुमकिन हो गया है। क्षरण के अकाट्य तथ्य पेश होते हैं। यह मानना पड़ता है कि कुल सन्दर्भ में न सही, कुछ सन्दर्भों में जनप्रतिनिधियों के भ्रष्टाचार, विकृत वैयक्तिक सत्ताकांक्षा, अफसरशाही से मिलीभगत और निजी स्वार्थ में ग्राम-हितों– पंचायत-हितों की तिलांजलि जैसे मामलों में बदतर स्थिति बनी है। इसकी पहली झलक तो विधानसभा के चुनावों की तरह मुखिया, जिला-परिषद सदस्यों के चुनाव के तामझाम, बड़े खर्च से ही मिल गयी थी। सामान्य क्षेत्रों में ही नहीं, अनुसूचित क्षेत्रों का भी ऐसा ही हाल रहा है। जिला-परिषद के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्षों के चयन में पैसों और तिकड़मों के बड़े-बड़े खेल अपनी अन्दरूनी सच्चाइयाँ खुद बयान कर जाते हैं।

ग्रामीण असन्तुष्ट और आहत हैं। ग्राम-सभा उपेक्षित है। बार-बार छली जाने को बेबस है। पंचायती प्रतिनिधि, हर स्तर के पंचायती प्रतिनिधियों में भी असन्तुष्टि है। उनकी पहली असन्तुष्टि व्यक्त रूप में तो यह है कि ब्यूरोक्रेसी के द्वारा उन्हें कानून द्वारा प्रदत अधिकार भी नहीं दिये जा रहे। दूसरी, किन्तु ज्यादा क्षोभजनक असंतुष्टि वांछित सुविधा और सम्मान न मिलने की है। यह असन्तुष्टि पूरी तरह आत्मकेन्द्रित है, अपने स्तर के संसाधन की स्थिति पर सीमित है। नीचे के संस्थानों की बदहाली, ग्राम-सभा की अवहेलना पर दिखावटी असन्तुष्टि भी शायद ही मुखर होती है। वे भी निचली इकाइयों को सक्रिय बनाने की कोई भूमिका नहीं ले रहे,

उनकी भूमिकाओं और संसाधनों को सुनिश्चित करने की आवाज नहीं उठा रहे। कई बार तो उनके अधिकारों का अतिक्रमण कर रहे हैं। और इसका पछतावा भी नहीं है। ग्राम-सभा के अधिकारों को बढ़ाने में कई कानूनी विसंगतियाँ हैं। उनकी अधिकारहीनता में भी कुछ वैधानिक स्थितियाँ बाधक हैं, उनमें सुधार की जरूरत है– यह उन्हें समझ नहीं आता। उनके संगठन बने हैं। वे संगठन अपनी सुविधाओं और सम्मान की माँगों को ही उठा रहे हैं। कानूनों की विसंगतियों को दूर करने, वैधानिक सुधार करने के मसले गायब हैं।

कुछ कमियाँ तो केन्द्रीय संविधान-संशोधन विधेयक में ही थीं। वे समझदारों, सत्ताबाजों को काफी साफ इशारे थे। 'कर सकने' की भाषा वाले प्रावधानों में उन्हें फेरबदल करने की काफी गुंजाइश दी गयी थी। जहाँ निर्देशात्मक, अनिवार्य की भाषा में अपेक्षा थी, वहाँ भी उन्होंने प्रावधानों को हल्का कर दिया। ये खेल प्रान्तीय कानून बनने के दरम्यान हुए। इसमें सचिवों (यानी ब्यूरोक्रेसी) की भूमिका सबसे बड़ी रही होगी– इसे तो समझा ही जा सकता है। इस खेल में मन्त्रियों और विधायकों को इससे कोई दिक्कत तो होनी ही नहीं थी। शक्ति और संसाधन नीचे की ओर थोड़ा भी जाए– यह उनकी दिली ख्वाहिश तो हो नहीं सकती थी।

विधान बनाना तो विधायकों का काम है। विधान पर अमल के लिए नियमावली बनाना, प्रक्रियाएँ गढ़ना, संकल्प जारी करना, अधिसूचना जारी करना– ये सारे तो नौकरीशुदा कार्यपालिका के मुख्य कार्यक्षेत्र हैं। नियमावली के जरिये भी अधिकारों को कुतरा जा सकता है, अधिकारों को देने की प्रक्रिया जटिल बनायी जा सकती है, अधिकारों के आवंटन की प्रक्रिया को लम्बा से लम्बा खींचते हुए लम्बे समय तक टाला जा सकता है। पाँच साल तक तो टाला जा चुका। या तो केन्द्रीय विधायिका और प्रान्तीय विधायिका को अफसरशाही की इस लटकाऊ विशेषज्ञता/दक्षता का अन्दाजा नहीं होगा, या वे भी यह जानते– चाहते होंगे। इसी कारण उन्होंने विधान में इस लटकन को निष्प्रभावी बनाने का कोई प्रावधान नहीं रखा। और जगजाहिर होने के बाद भी इस लटकन को समाप्त करने के लिए निर्वाचित कार्यपालिका हस्तक्षेप भी नहीं कर रही।

बहुत सारे कारक हैं, जिनके कारण पंचायती कानून पन्नों से उतरकर पूरा का पूरा गाँव के सामान्य जनों तक, पंचायती संस्थानों तक नहीं पहुँच रहा। पंचायती राज संस्थान का असल कार्य विकास की सहयोगी एजेंसी का ही है– शासन की नजरों में। पंचायत के लिए संवैधानिक संशोधन की बड़ी पहल राजीव गांधी ने ली थी। विकास के बारे में उनका एक दमदार जुमला था– दिल्ली से निकले 1 रु. में 15 पैसा गाँव पहुँचता है। इसी तरह दिल्ली से भेजा गया पंचायत कानून भी 15 प्रतिशत ही गाँव तक पहुँचा। बीच में बड़े छेद हैं या बड़े सोख्ते हैं। सबसे बड़ा छेद या सोख्ता

तो अफसरशाही है। ज्यादा से ज्यादा पैसा गाँव तक पहुँचाने के लिए पंचायती राज बनाया गया, ज्यादा से ज्यादा पंचायती राज नीचे पहुँचाने के लिए जरूरी चीज नहीं की जा सकी। उसके लिए जो स्पष्ट कानूनी प्रावधान बनाना था, नहीं बनाया गया।

रिक्ति/अलगाव या गैप की लड़ी शिखर से जमीन तक, संसद के संविधान-संशोधन से लेकर ग्राम-सभा को यथार्थ में हासिल भूमिका तक हर जगह लटकी हुई है। संविधान ने जो दिया, बड़ी लम्बी उपेक्षा के बाद दिया, अनपेक्षित दिया, सुखद दिया। पर स्थानीय या ग्राम-स्वशासन और पंचायती संविधान संशोधन के बीच स्पष्ट फर्क या अलगाव था। जो मिला वह स्वशासन का आत्मनिर्णयी अवसर नहीं, योजनाओं के कुछ निर्धारण और ज्यादा क्रियान्वयन यानी विकास के एक सक्रिय स्थानीय अभिकरण की भूमिका थी। पेसा में भी उपरोक्त के साथ महत्वपूर्ण संसाधनों के बारे में सलाह, छोटे-मोटे संसाधनों के बारे में भी सिफारिश और समुदाय एवं गाँव में प्रचलित सामाजिक और न्यायिक परम्पराओं को चलाते रहने, बचाये रखने की भूमिका थी। विधायी भूमिका नहीं, न्यायिक भूमिका नहीं, अभिशासन की भी भूमिका नहीं, राजस्व और वित्तीय प्रशासन की भूमिका भी नहीं; बस नागरिक सुविधाओं और विकास की सहयोगी गतिविधियों के क्रियान्वयन और संचालन की ही भूमिका मिली। यानी निर्वाचित कार्यपालिका की स्थानीय इकाई की भी पूरी और सक्षम भूमिका भी संविधान ने इन्हें प्रदान नहीं की। भूमिकाओं, शक्तियों और अधिकारों के मामले में प्रशासन की पुरानी संस्थाओं और नवोदित पंचायती संस्थाओं में ओवरलैपिंग/गुत्थमगुत्थगी को खत्म करने या सुलझाने के बारे में संविधान-संशोधन और केन्द्रीय पेसा कानून में कोई उल्लेख नहीं है। गुत्थमगुत्थी की तो निश्चित सम्भावना थी, भूमिकाएँ नितान्त नयी तो थीं नहीं, उन्हें डेवलपमेण्टल ब्यूरोक्रेसी निभा रही थी। ऐसे में टकराहट तय थी। टकराहट, उलझाव, ओवरलैपिंग की स्थिति में प्राथमिकता और निर्णायकता का वैधानिक/औपचारिक प्रावधान और प्रक्रिया होनी ही चाहिए थी। (वैसे लोकतान्त्रिक मूल्यों की कसौटी, वैधानिक नहीं किन्तु नैतिक कसौटी पर निर्वाचित संस्था समस्तरीय सामान्य नियुक्त संस्था पर निर्णायक होनी चाहिए– पर यह भी विधान/संविधान में स्पष्ट होता तो समाधान आसान था।) पंचायती संविधान संशोधन के साथ पंचायतों के लिए 11वीं अनुसूची में जो विषय दिये गये हैं, वे न्यूनतम हैं या अधिकतम? वे हर स्तर पर दिये जाने जरूरी होंगे या किसी एक स्तर पर देना भी चलेगा? उन विषयों पर योजना-निर्धारण, क्रियान्वयन-समर्थता, कार्मिक आत्मनिर्भरता जैसे सभी स्तरों की भूमिका देनी है या कोई एक-दो स्तरों की भूमिका देने से भी चलेगा? ऐसे बिन्दुओं पर अस्पष्टता या उल्लेखहीनता के कारण ज्यादा सम्भावना यही थी कि पंचायती संस्थानों को कम से कम रोल मिले। इसी अस्पष्टता के कारण अलग-अलग राज्यों

की अलग-अलग स्थिति है। और बेहतर हालत बहुत कम राज्यों में है। और जहाँ बेहतर है, वहाँ भी अपेक्षा या सम्भावना से कम बेहतर है।

संविधान-संशोधन के जरिये संसद ने त्रिस्तरीय पंचायती संस्थानों का निर्माण करने और पंचायतों के जिम्मे 29 विषयों के कृत्य सौंपने की अनिवार्यता लादी थी। पेसा कानून के जरिये अनुसूचित क्षेत्रों में ग्राम-सभा को अतिरिक्त अधिकार, अन्य पंचायती संस्थानों को कुछ अतिरिक्त अधिकार और कृत्य सौंपने के निर्देश दिये थे।

किन्तु इन संदर्भों में विस्तृत कानूनी प्रावधानों के निर्माण का काम राज्यों पर ही था। प्रान्त कानून न बनाये तब क्या होगा, केन्द्रीय प्रावधानों की बुनियादी भावनाओं से असंगत कानूनी प्रावधान बनाएँ तब क्या होगा– ऐसी स्थितियों के बारे में कोई बात केन्द्र के कानूनों में स्पष्ट रूप से नहीं कही गयी थी। जो कृत्य और अधिकार पंचायती संस्थानों को मिलने हैं; वे कितना, कब तक, किस प्रक्रिया में मिलेंगे– यह भी प्रान्तीय कानून के जरिये ही तय होना था, क्योंकि केन्द्रीय कानून में तो निर्धारित था नहीं। केन्द्रीय कानून से कम कृत्य और अधिकारों का प्रावधान प्रान्तीय कानून में हो, तो क्या होगा– इसकी भी कोई व्यवस्था दर्ज नहीं थी।

कानूनों में अक्सर ऐसी बातें दर्ज नहीं होती। यह मान लिया जाता है कि संविधान और केन्द्रीय विधान की मूलभूत भावनाओं का पूरा का पूरा ख्याल प्रान्तीय विधायिका रखेगी ही। और केन्द्रीय भावनाओं का पूर्ण प्रतिबिम्बन प्रान्तीय कानूनों में होगा ही।

किन्तु जो बातें नहीं थीं, वे जरूरी थीं, प्रासंगिक थीं। क्योंकि एक जमी-जमायी सत्ता-संरचना में नये संस्थानों को बनाना और उन्हें अधिकार व काम प्रदान करना एक दु:साध्य कार्य था। बिना पूरी सावधानी के और संवैधानिक दबाव के यह सन्तोषजनक ढंग से भी सम्पन्न नहीं हो सकता था। संविधान-संशोधन की जरूरत, पेसा कानून की जरूरत भी तो इसी कारण पड़ी थी। प्रान्तों ने जो किया, खासकर झारखण्ड में जो हुआ, उससे तो उन बातों की अनिवार्यता और भी तीखी होकर उभरी है।

झारखण्ड में जो पंचायती राज अधिनियम बना, उसमें तो बहुत महत्वपूर्ण अधिकारों से वंचित नहीं किया गया है। पर अनुसूचित क्षेत्रों के पंचायती अधिकार और कृत्यों में बहुत महत्त्वपूर्ण शक्तियों में भी काँट-छाँट की गयी है।

लेकिन उसके पहले थोड़ा यह याद कर लें कि विधान बनाये जाने के बाद भी झारखण्ड में दस साल तक पंचायती चुनाव लटकता रहा। पंचायती चुनावों को खींचते रहने में मुख्य भूमिका प्रान्त सरकार की रही, उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय की भूमिका इस देर को खत्म करने में नहीं रही, बल्कि उनकी भूमिका देर को बढ़ाने को रही। 73वाँ संविधान संशोधन और केन्द्रीय पेसा कानून भी कोई हस्तक्षेप करने में समर्थ नहीं था।

पेसा कानून के केन्द्र संस्करण और झारखण्ड संस्करण के प्रावधानों को मिलाने पर यही दिखता है ग्राम-सभा और पंचायती संस्थानों का अधिकार किसी भी स्तर पर बढ़ाया नहीं गया। यहाँ आदिवासी मुख्यमन्त्री थे, आदिवासी विधायकों की अच्छी-खासी संख्या थी और आदिवासी अधिकारों का सशक्त आन्दोलन था, तब भी नहीं बढ़ाया गया। (हाँ, ब्यूरोक्रेसी ऐसी थी जो जनप्रतिनिधियों पर हावी होने की कोशिश करती दिखती रहती थी)। कई मामलों में कृत्य और भूमिकाएँ घटा ही दी गयीं। विकास योजनाओं में भूमि अधिग्रहण एवं पुनर्वास के पहले ग्राम-सभा एवं उपयुक्त स्तर के पंचायत से विमर्श के तत्व को हटा दिया गया है। खनिजों को निकालने की प्रक्रिया में ग्राम-सभा या उपयुक्त स्तर के पंचायतों की अनुशंसा या सिफारिश के तत्व को भी छोड़ दिया गया है। गौण खनिज के लीज या लाइसेंस देने के पहले ग्राम-सभा या उपयुक्त स्तर के पंचायत की सिफारिश की जरूरत को भी दर्ज नहीं किया गया है। गौण वन उत्पाद पर ग्राम-सभा या उपयुक्त स्तर पर पंचायतों के स्वामित्व को भी नहीं माना गया है और सिर्फ वनों के प्रबन्धन तथा अनुरक्षण का जिम्मा दिया गया है। जनजातीय भूमि के गैरकानूनी हस्तान्तरण पर रोक और वैसी जमीन की वापसी हेतु कार्यवाही की शक्ति ग्राम-सभा या मध्यवर्ती पंचायती संस्थानों को नहीं दी गयी है, यह अधिकार जिला-परिषद को दिया गया है। अनुसूचित जनजातियों के लोगों को दिये जानेवाले कर्ज पर नियन्त्रण का अधिकार ग्राम-सभा या उपयुक्त स्तर के पंचायत को नहीं दिया गया है। जिला-परिषद को सिर्फ निगरानी का अधिकार दिया गया है। सामाजिक क्षेत्रों में सक्रिय संगठनों और संस्थाओं पर नियन्त्रण का अधिकार सिर्फ जिला-परिषद के स्तर पर दिया गया है। जाहिर है केन्द्र से चले कुछ कृत्यों और हकों को प्रान्तीय स्तर पर ही रोक लिया गया और कुछ को कतरकर नीचे पंचायती स्तरों पर भेजा गया। केन्द्रीय कानून और प्रान्तीय कानून के बीच एक बड़ी और सुस्पष्ट रिक्ति, विसंगति की हद तक की रिक्ति है।

झारखण्ड के प्रान्तीय पंचायती राज कानून बनने के बाद जो चुनाव हुआ, उसमें अनुसूचित क्षेत्र में भी समाज-मान्य यानी एक गाँव की पहचान/नाम के साथ निरन्तर सामुदायिक सामूहिक सहजीवन जी रहे वासों को ग्राम-सभा के रूप में चिह्नित करने, मान्य करने, भूमिका देने की कोई गम्भीर कोशिश नहीं दिखी। लोगों की ओर से, समाज की ओर से या टोलों, छोटे गाँवों की ओर से भी यह कोशिश नहीं दिखी। हमारे टोले को ग्राम-सभा के रूप में मान्यता दी जाए– यह माँग कभी सुनने में नहीं आयी। बाद के दौर में राँची में कुछ टोलों की टोला-सभा के ग्राम-सभा के रूप में काम करने की पहलकदमी खबर में आयी।

चुनाव के लिए वार्ड बनाने के क्रम में टोलों और गाँवों को भी तोड़ा गया।

अखण्ड सामाजिकता को खण्डित किया गया। इतना ही नहीं, ऐसे पंचायत भी बनाये गये, जिनके गाँवों के बीच की दूरी 20 किमी तक है। वार्ड, पंचायत, पंचायत-समिति, जिला-परिषद के निर्वाचन-क्षेत्रों के निर्धारण के लिए आबादी और मतदाता संख्या की समानता की कसौटी का पालन किया गया। किन्तु सामाजिक अन्तरंगता, पहचान की एकरूपता (ग्राम एवं टोला का नाम), गाँवों के बीच भौगोलिक निकटता-निरंतरता-अन्तरंगता; सबडिविजन, विधानसभा-क्षेत्र, संसदीय निर्वाचन-क्षेत्र की अखण्डता (यानी कोई निर्वाचन-क्षेत्र इन्हें विभाजित न करें, दो क्षेत्रों में निर्वाचन-क्षेत्र न पड़ें) की न तो कसौटी कानून में बनायी गयी है और न ही उनके यथासम्भव पालन का कोई खास ख्याल ही किया गया है। इस स्थिति को रिक्ति का नाम देना शायद सटीक न होगा। इसे विसंगति, अन्तर्विरोध या जटिलता की श्रेणी में रखना ही जँचता है।

प्रान्तीय कानून में यह प्रावधान बनाया गया है कि अधिसूचना के माध्यम से अधिकार और कृत्य पंचायतों को सौंपा जाएगा। कानून में कई जगहों पर पर्याप्त विस्तार है, किन्तु इस हिस्से में काफी संक्षिप्तता है। यह अधिसूचना किसी एक जगह से जारी होगी, अलग-अलग विभागों से जारी होगी, वाया जिला-प्रशासन/प्रखण्ड-कार्यालय जाएगी या सीधे निर्वाचित संस्थाओं के पास जाएगी? कितने दिनों में सारे विषय, कृत्य, अधिकार हस्तान्तरित कर दिये जाएँगे? निर्वाचित संस्था के पूर्णकाल की समाप्ति के पूर्व यानी पाँच साल के पहले तक भी सारे अधिकार सुपुर्द कर देना अपेक्षित होगा या नहीं? अगर प्रान्तीय अधिसूचना के बाद भी जिला-प्रशासन अधिकार सुपुर्द नहीं करता– उस हाल में क्या होगा? ऐसे सम्भावित (सम्भावित ही नहीं, निश्चित) सन्दर्भों के लिए कानून कुछ नहीं कहता।

अब कुछ महीनों में अगले पंचायत-चुनाव की प्रक्रिया शुरू होनेवाली है। किन्तु अभी 10 विषयों को सौंपने का काम ही हुआ है। इस मामले में भी जिलों की अलग-अलग स्थिति के बारे में पढ़ने को मिलता है। सभी जिलों में 10 विषयों की भूमिका नहीं सौंपी गयी है। एक ही विषय में सौंपी गयी भूमिकाओं की समरूपता भी देखने को नहीं मिलती। जिला-परिषद के अधीनस्थ कर्मियों की ट्रांसफर-पोस्टिंग के मामले में स्थापना समिति की अध्यक्षता करने और नियुक्ति-पत्र सौंपने के मामलों में दो अलग-अलग जिलों में दो भिन्न स्थिति का तथ्य तो यही जाहिर करता है। डीसी के हाथ अतिकेन्द्रण और नयी परिस्थिति के बारे में आवश्यक स्पष्ट प्रक्रियाओं के न होने के कारण पंचायती राज संस्थानों को मिलने वाली भूमिका में डीसी एवं समाहरणालय के रुख पर अधिकांश चीजें निर्भर रहती हैं।

जितने विषय और कृत्य विभिन्न स्तरों की पंचायती संस्थानों को दिये गये हैं, उन्हें करने के लिए जरूरी संख्या में कर्मी न तो सौंपे गये हैं और न ही नये कर्मियों

को नियोजित करने का अधिकार और संसाधन सुपुर्द किया गया है। सबसे बुरी स्थिति पंचायत-सचिव के मामले में हैं। उनके जिम्मे काम ज्यादा है और उनकी संख्या काफी कम है। उनके हिस्से ग्राम-सभाओं की बैठकों और फैसलों के संचालन और लिपिबद्ध करने और अन्तिम रूप देने का जिम्मा है। एक पंचायत-सचिव के जिम्मे कई पंचायतों का जिम्मा है। ग्राम-सभा की बैठकों और पंचायत-समिति के बैठकों के लिए एक ही सरकारी सचिव का जिम्मा सही नहीं है। ऐसा दोहरापन या ओवरलैपिंग अन्य पंचायती स्तरों पर देखने को नहीं मिलता। पंचायत कानून में दर्ज प्रावधान के कारण भी ऐसा है। ग्राम-सभा की बैठक का आयोजन/बुलाया जाना मुखिया के जिम्मे है और पंचायत-सचिव मुखिया का सचिव होता है। पंचायत-सचिव के हवाले गाँव का जिम्मा पूरी तरह से अव्यावहारिक है और ग्राम-सभा की बैठकों को दुष्प्रभावित करने वाला है।

पंचायती संस्थानों के विविध स्तरों की सक्रियता एवं अन्य स्थिति के बारे में जो खबरें सुनने-पढ़ने को मिलती हैं, उससे यह लगता है कि तीनों स्तर योजनाओं के निर्माण, निर्माण से भी ज्यादा क्रियान्वयन में कमोबेश सक्रिय हैं। उनकी सक्रियता की अधिकांश गतिविधियाँ वैसी हैं, जिसमें मुख्य रूप से संरचनात्मक निर्माण या आर्थिक व्यय शामिल हैं। उनमें ऐसी गतिविधियाँ नहीं के बराबर हैं, जिनमें सामाजिक-सांस्कृतिक क्रियाशीलता का हिस्सा ज्यादा और आर्थिक व्यय का हिस्सा गौण है। जिला-परिषद के हिस्से विरासतन चली आ रही स्थायी सम्पदा– भवन, जमीन आदि हैं और जिला-परिषद अपनी आमदनी की बढ़ोतरी और निरन्तरता के लिए उन पर व्यावसायिक उपयोग में आनेवाले निर्माण-कार्य करवा रही है। प्रखण्ड-समिति और पंचायत-समिति के पास ऐसी स्थायी सम्पदा देखने को नहीं मिलती। स्थायी सम्पदा यानी आर्थिक अत्मनिर्भरता के स्रोत के मामले में जिला-परिषद और बाकी दोनों स्तरों के बीच का यह असन्तुलन, गैप या गैरबराबरी के प्रति कानूनी और प्रशासनिक सचेतनता देखने को नहीं मिलती।

गाँव की, उसकी औपचारिक या कार्यशील सामूहिकता गाँव-सभा की हालत सबसे ज्यदा चिन्ताजनक है। गाँव-सभा इस त्रिस्तरीय पंचायत-व्यवस्था का हिस्सा नहीं है। कानून में ग्राम-सभा का जिक्र है, उसके कृत्यों का जिक्र है, किन्तु कृत्यों को संचालित करने की स्वतन्त्र प्रशासनिक एवं वित्तीय संरचना नहीं है। पेसा क्षेत्र में थोड़ी स्वतन्त्र सामाजिक-सामुदायिक स्थिति है। पर वहाँ भी प्रशासनिक एवं वित्तीय स्वायत्तता आंशिक स्तर पर भी नहीं है। मुखिया और पंचायत सचिव का ग्राम-सभा पर आरोपण है। इससे ग्राम-सभा की नैसर्गिक स्वतन्त्रता और मूलभूत शासन-निरपेक्ष स्थितिशीलता की मूलभूत भावना ही एक हद तक बाधित होती है।

ग्राम-सभा की 8 स्थायी समितियों की बात में भी एक असंगति है, आरोपण

है। ये समितियाँ क्यों, कम या ज्यादा क्यों नहीं, क्या सभी सन्दर्भों में ग्राम-सभा को भूमिका मिली हुई है, कोई भी भूमिका इन आठ समितियों के दायरे से बाहर नहीं हैं? इन प्रश्नों की कसौटी पर ठोंक-पीटकर यह प्रावधान रखा गया है, ऐसी व्याख्या कहीं देखने-सुनने को तो नहीं मिलती। कृत्यों के अनुसार समितियों के गठन के मामले में ग्राम-सभा के पास खुले विकल्प होते– यह ज्यादा अच्छी बात होती। और अगर ये जरूरी थीं तो ऊपरी इकाइयों की पहल से पंचायत-सचिव, मुखिया की सक्रियता से इसे बनाया और कार्यशील किया जाना चाहिए था।

गाँवों में कहीं भी ग्राम-सभा की आठों समितियाँ नहीं बनी हैं। ऊपर की स्कीमों में जहाँ आवश्यक बनाया गया है, वहाँ मिलती-जुलती या उस विषय की ग्रामीण समितियाँ बनी हैं, मसलन शिक्षा-समिति और स्वास्थ्य-समिति। बाकी अन्य समितियों का न बनना ग्राम-सभा की कमजोर पहलकदमी को भी जाहिर करती है।

कई बैठकों में कई ग्रामीण, कहीं-कहीं तो ग्राम-प्रधान भी यह शिकायत करते हैं कि ग्राम-सभा का रजिस्टर गाँव में नहीं रहता, पंचायत-सचिव के पास रहता है। पंचायत-सचिव कभी-कभी आकर उस पर लोगों का हस्ताक्षर और अंगूठा निशान ले जाता है। कई बार लोग यह बताते मिल जाते हैं कि अमुक योजना के बारे में कभी गाँव की बैठक में चर्चा तक नहीं हुई और योजना अमल में भी आ गयी। इसके दो पहलू हो सकते हैं। या तो ग्राम-सभा में निर्णय की अनिवार्यता या औपचारिकता का उल्लंघन किया जा रहा है या ग्राम-सभा के रजिस्टर में फर्जी दर्जगी हो रही है। पंचायत-सचिव के पास रजिस्टर होने का एक सीधा निष्कर्ष यह तो होता ही है कि ग्राम-प्रधान और ग्रामीणों का ग्राम-रजिस्टर पर स्वामित्वबोध नहीं है या बेहद कमजोर है और वे पंचायत-सचिव से दबते-डरते हैं। ग्राम-सभा रजिस्टर के बारे में सम्भवत: यह भावना भी हो कि यह तो सरकारी रजिस्टर है, इसमें सरकारी योजनाओं का निर्णय भर दर्ज होना है और दर्ज करने की निर्धारित जिम्मेवारी पंचायत-सचिव की है। योजनाओं से अलग भी, पंचायत-सचिव की अनुपस्थिति में भी किसी विषय पर बैठक हो सकती है और उसकी कार्यवाही उस रजिस्टर में दर्ज हो सकती है– यह शायद ग्रामीण सोचते ही नहीं।

यह गड़बड़ी तो पंचायतों के स्तर पर भी देखने को मिली है। पंचायत के कागजात पंचायत-सचिव के मीलों दूर निजी घर में भी रखे जाते हैं। बहाना होता है, पंचायत-भवन का न होना; पंचायत-भवन होने पर भी असुरक्षित स्थिति होना। यह स्थिति ग्राम प्रधान या निर्वाचित मुखिया और निम्न नौकरशाह पंचायत-सेवक के बीच रिश्ते की गैरबराबरी; पंचायत-सेवक की मनमानी का जिन्दा तथ्य है।

कम्प्यूटर, इलेक्ट्रोनिक डाटा संग्रह उपकरणों की निरन्तर विकसित होती दुनिया

में तो ये बहाने बेतुके साबित होते हैं। प्रावधानों एवं भूमिकाओं के विभिन्न स्तरों के बीच के खालीपन और उन रिक्तियों में अफसरशाही की हस्तक्षेप की कारगुजारियों, प्रावधानों एवं भूमिकाओं की विसंगतियाँ और आन्तरिक अन्तर्विरोध तथा कुल मिलाकर श्रेष्ठताबोध से संचालित ब्यूरोक्रेटिक हस्तक्षेप की अन्तर्धारा और अतिभूमिका के कारण भूमिका-विहीनता जैसे कारक पंचायती संस्थाओं में उतनी जान और गति भी नहीं भर पा रहे, जितना उल्लेखित है, घोषित है।

उपरोक्त कमियों और गड़बड़ियों का यह निष्कर्ष नहीं है कि पारिमाणिक रूप से बातें नकारात्मक दिशा में गयी हैं। उपलब्धियों या नतीजों का आकलन आसान नहीं, जटिल है। नीचे तक भ्रष्टाचार, सत्तालिप्सा, अवसरवाद का आना खतरनाक है। गाँव तक, जनाकांक्षा की तह तक अफसरशाही की घुसपैठ और दखल खतरनाक है। किन्तु ग्राम-सभा की सक्रिय भूमिका की मान्यता आगे बढ़ाने वाली है। ग्राम-स्तर पर, मुखिया-स्तर पर और कुछ-कुछ जिला-स्तरीय जनप्रतिनिधि के स्तर पर भी मानव-तस्करी, आपसी विवाद, पर्यावरण-विनाश, नशा जैसी सामाजिक समस्याओं पर हैसियत और प्रतिष्ठा प्राप्त जागरूक और असरदार पंचायती प्रतिनिधियों ने सकारात्मक पहल की है, महत्वपूर्ण परिणाम दिये हैं। अफसरशाही और जनप्रतिनिधियों के बीच की टकराहटों से नीचे के स्तर तक राजनीतिक एवं जनतान्त्रिक चेतना के विकास का उत्प्रेरक एवं गतिशील वातावरण बना है।

फिर कमियों के विवरण पर वापस आएँ। कुछ बुनियादी विवरण छूट गये हैं। पूरी व्यवस्था की ही तरह इस पंचायती व्यवस्था में भी समूह और पदधारी, समिति और उसके प्रमुख, समूह और उसके नेतृत्वकारी व्यक्ति के बीच शक्ति का असन्तुलन है। व्यक्ति की ओर, पदधारी की ओर शक्ति का वर्चस्व झुका हुआ है। इसी तरह ऊपर की समितियों की ओर शक्ति और कृत्य ज्यादा संकेन्द्रित है। इकाइयों के बीच सुस्पष्ट निर्णायकता का सहसम्बन्ध नहीं है।

गाँव की स्थिति को थोड़ा और ज्यादा सूक्ष्मता से समझने की जरूरत है। गाँव के ग्राम-प्रधान अक्सर गाँव के सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक प्रभावी राजनैतिक-सामाजिक चेतना और व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व नहीं करते। ग्राम-प्रधान में गाँव को एक साथ बैठाने, आगे ले जाने और ग्राम-हितों को लेकर प्रतिरोध और संघर्ष करने की नेतृत्व क्षमता अनिवार्यत: देखने को नहीं मिलती। नेतृत्व-क्षमता वाले ग्रामीण ग्राम-सभा की समितियों में भी हर जगह नहीं होते। ऐसे लोग अलग-अलग जगहों पर होते हैं। कुछ निजी स्वार्थों में गिरोहबन्द होते हैं, कुछ बाजारों और ऑफिसों में बिचौलियों के रूप में सक्रिय होते हैं। कुछ जो निजी स्वार्थों में सक्रिय नहीं भी होते; वे व्यापक राजनीतिक-सांगठनिक गतिविधियों में गाँवों से बाहर, व्यापक स्तर पर सक्रिय होते हैं। गाँवों में ग्राम-सभा को सुचारु रूप से संगठित करने, सक्रिय करने लायक न तो

पर्याप्त कार्यकर्ता शक्ति कहीं है और न ही विकसित करने की योजनाबद्ध कोशिश ही है। इस बिखराव, रिक्ति, अलगाव और कहीं-कहीं हितों की टकराहटों के कारण ग्राम-सभा अधिकांश जगहों पर एक जानदार ग्रामीण सामूहिक पहलकारी शक्ति का रूप नहीं ले पा रही है।

झारखण्ड में कुछ गिने-चुने जगहों पर प्रेरक एवं अनुकरणीय पहलकदमियाँ सामूहिक तौर पर भी हुई हैं। कई जगहों पर टोला-सभा को सृजित कर उन्हें जीवन्त और नियमित बनाया गया है। ग्राम-सभा की बैठक के पहले टोला-सभा की बैठक कर निर्णय लिये जाते हैं और उन्हें लिखित रूप में ग्राम-सभा के सामने तथा अन्य स्तरों पर भी सौंपा-भेजा जाता है। इसी तरह कई गाँवों में ग्राम-सभा के पहले महिला-सभा की जाती है, समस्याओं को और योजनाओं को लिखा जाता है और उसकी एक प्रति ग्राम-सभा की बैठक में दी जाती है।

स्वेच्छा से हो या दबाववश (लाज-लिहाज के असर में) झारखण्ड की प्रान्तीय सरकार कानून के माध्यम से जितना देना-जो देना स्वीकार कर चुकी है; उसे पूरा का पूरा असरदार रूप में देने के लिए ऊपर जाहिर रिक्तियों को भरना होगा, विसंगतियों को दूर करना होगा। वैसे केन्द्र-सरकार को भी प्रान्तीय कानूनों के केन्द्रीय कानून के मुकाबले अधूरेपन को दूर करने के लिए वैधानिक दबाव बनाना चाहिए। संघात्मकता के कारण वैधानिक दबाव न सम्भव हो तो नैतिक दबाव और वित्तीय बारगेनिंग/शर्तबन्दी बनाना चाहिए। राज्यों की पंचायती कानून क्रियान्वयन उपलब्धि का रैंकिंग सार्वजनिक रूप से घोषित कर और रैंकिंग सुधारने के सार्वजनिक अपील के जरिये भी इसे एक हद तक किया जा सकता है।

रिक्तियों और विसंगतियों को दूर करने की कोशिश प्रान्तीय सरकार को तीव्रगति से, समयबद्ध तरीके से करनी चाहिए। ऊपरी स्तर की संस्थाएँ तो समाहरणालय और प्रखण्ड के सीधे सम्पर्क के कारण कमोबेश कुछ न कुछ सक्रिय होती ही हैं, धीरे-धीरे उनकी सक्रियता बढ़ती भी जाती है। ऊपरी और निचली संस्थानों की सक्रियता और सामर्थ्य के फर्क के कारण शक्तियों के ऊपरी संस्थानों में सिमटते जाने की भी सम्भावना होती है। इस कारण ग्राम-सभा, वार्ड-सदस्यों, पंचायत-समिति, मुखिया आदि की सक्रियता और सामर्थ्य के आड़े आ रही रिक्तियों और विसंगतियों को दूर करने पर विशेष फोकस होना चाहिए। पदों, एकल पदों से ज्यादा उस स्तर की समिति को निर्णायक मानने-बनाने पर फोकस होना चाहिए।

पंचायती संस्थाओं को अतीत के मुकाबले काफी सक्रिय भूमिका का अवसर मिला है। किन्तु अगर शासन के ऊपरी तन्त्रों और निचले तन्त्रों, निजीकरण के कारण उद्यमियों-व्यापारियों, गाँव-गाँव उभरे दलाल और आपराधिक स्वार्थ गिरोहों (ऊपरी प्रशासन और प्रतिनिधियों से संरक्षण प्राप्त) के साथ पंचायती संस्थानों की शक्ति

की तुलना करें तो गाँव और पंचायत तुलनात्मक रूप से अब तक की सबसे कमजोर स्थिति में हैं। और अगर इनकी भूमिका और सक्रियता बढ़ाने की विशेष कोशिश न हुई तो तुलनात्मक शक्तिहीनता बढ़ती ही जानेवाली है।

ये कदम अवश्य उठाने जाने चाहिए :

- 2015 में होनेवाले चुनाव के पहले पंचायती संस्थानों को सारे विषय सौंप दिये जायें। अगर ब्यूरोक्रेसी एक निर्धारित अवधि तक अधिसूचना निकालकर (नियमावली की अनिवार्यता या चलन से मुक्त कर) ये भूमिकाएँ नहीं सौंपती तो विधानसभा को विशेष सत्र बुलाकर शक्ति सुपुर्दगी की प्रक्रिया को संशोधित कर स्वतः अधिकार प्राप्ति का सन्दर्भ जोड़ देना चाहिए। इसमें कोई जटिलता या टकराव या शून्यता भी नहीं बनने वाली। इन सभी विषयों पर कार्य का तन्त्र पहले से है। तब तक निर्वाचित-तन्त्र और नौकरशाही-तन्त्र के संयुक्त आदेश और संचालन से काम चलता रह सकता है, जब तक कि पंचायती संस्थानों का स्वतन्त्र कार्मिक बल न बन जाए और अभी मौजूद कर्मियों को पंचायती संस्थान के अधीन न कर दिया जाए।
- दो साल के भीतर (ताकि आधा से ज्यादा समय अपने कार्मिकों के साथ काम का मौका जरूर मिल सके) पंचायती संस्थानों का सम्पूर्ण कर्मचारी बल बहाल हो जाए। आवश्यक हो तो पंचायती कर्मचारी चयन आयोग बने।
- पंचायती संस्थानों को सक्रिय करने, राह के प्रशासनिक और न्यायिक अवरोधों को प्रक्रियावार (मामलावार नहीं) समाप्त करने के लिए एक उच्चाधिकार-सम्पन्न (सम्बद्ध सभी विषयों में विभागों को आदेश देने में सक्षम) पंचायती आयोग सह पंचाट बनाया जाए।
- वार्डों के बँटवारे में टोले या छोटे गाँवों की सामुदायिकता, सामूहिक अस्मिता एवं क्रियाशीलता खण्डित न की जाए। एकाधिक टोलों को खण्डित कर वार्ड तो हरगिज न बनाये जाएँ। एक टोले को दो पूरे वार्डों में या दो टोलों को पूरा एक साथ रखकर एक वार्ड बनाने की बात सोची जा सकती है। वार्ड का गठन उससे सम्बद्ध टोलों और ग्रामीणों की सहमति, प्रामाणिक अनुमति के बिना न हो। उनसे पहले राय माँगकर या टोला सभा की बैठक कर व्यक्त जनमत के आधार पर ही फैसला हो। अनुसूचित क्षेत्र में तो यह अभी भी एक वैधानिक दायित्व है।
- हर ग्राम-सभा को आबादी के हिसाब से एक ऐसी निधि दी जाए, जिससे ग्राम-सभा अपनी जरूरतों के लिए स्वतन्त्र विवेकाधिकार/निर्णयाधिकार के

तहत गतिविधियाँ या योजनाएँ संचालित कर सके।

- पंचायत-सचिव और मुखिया/उपमुखिया को ग्राम-सभा की तमाम गतिविधियों से अलग किया जाए। पंचायत-सचिव की संलग्नता का तो कोई वैधानिक प्रावधान भी नहीं।
- ग्राम-सभा का रजिस्टर ग्राम-कार्यालय या ग्राम-प्रधान या ग्राम-सभा सचिव/कार्यालय-प्रभारी के पास रहे। गाँव के बाहर किसी अधिकारी/कर्मचारी के पास नहीं रहे। अगर रजिस्टर किसी बाहरी कर्मी के पास मिले तो उस पर दण्डात्मक कार्यवाही हो।
- गाँव-सभा की माह में एक बैठक तथा ग्राम-सभा के पहले वार्ड-सभा/टोला-सभा, महिला-सभा और अन्य कमजोर/वंचित तबकों की सभा को प्रेरित - प्रोत्साहित किया जाए।
- गाँव की सार्वजनिक अचल सम्पति को ग्राम-सभा के स्वामित्व या निर्णायक अधिकार में दिया जाए या ग्राम-सभा के स्थायी अधिकार में अचल सम्पति चिन्हित कर आवंटित की जाए। इस पर ग्राम-सभा के अलावे किसी अन्य संस्थान का अधिकार न हो।
- मुखिया, प्रखण्ड-समिति अध्यक्ष, जिला-परिषद अध्यक्ष के हर निर्णय के साथ उस स्तर के समिति के बैठक का निर्णय या अनुमोदन और आपात-सन्दर्भों में भी बहुमत की लिखित अनुमति अनिवार्य हो। जिस निर्णय या कार्यवाही पर समिति के बहुमत का विरोध हो, उस निर्णय या कार्यवाही को रद्द करने का प्रावधान हो।
- ग्राम-प्रधान की अनुमति, ग्राम-सभा की सहमति के बिना ग्राम में कोई भी योजना न चले। ग्राम-सभा के सदस्यों की कुल संख्या के बहुमत के खुले विरोध की स्थिति में योजनाएँ रोक दी जाएँ।
- ऊपरी स्तर के पंचायती संस्थान के हर योजना-क्रियान्वयन, निर्णय-क्रियान्वयन के पूर्व सम्बन्धित निचले पंचायती संस्थान की समिति की अनापत्ति लेने का नियम या चलन रखा जाए।
- ग्राम-पंचायत के कृत्य में पंचायत-क्षेत्र के लिए योजनाएँ बनाने का जिक्र है, पर ग्राम-सभा के प्रस्ताव के आलोक में योजनाएँ बनाने का सन्दर्भ नहीं है। ग्राम-सभा के कृत्य में योजनाओं की प्राथमिकता और सिद्धान्त-निर्धारण का जिक्र है। योजनाओं के क्रियान्वयन के पूर्व अनुमोदन का कृत्य भी है। इस अस्पष्टता को विधान-संशोधन, विधान-व्याख्या या आदेश– किसी भी प्रभावी तरीके से दूर कर लिया जाए।

- ग्राम-सभा को उपरोक्त के अलावे सिफारिश, लेखा-विचार, निधि–उपयोग अभिनिश्चय एवं अभिप्रमाणन, योजना के स्रोतों एवं व्ययों की निगरानी (ये विशेषज्ञता और निरन्तर बौद्धिक सामर्थ्य एवं सक्रियता का तकाजा रखते हैं, और इस कारण प्रभावी होने के बाद भी प्रारम्भिक दौर में कठिन हैं) जैसे कृत्यों के अलावे सारे कृत्य आदेशपालक और चौकीदारी (देखरेख करने वाले) के हैं। जो विशेषज्ञता वाले कृत्य हैं, उनकी प्रभावशीलता का विवरण नहीं हैं यानी इन कृत्यों की अनुपस्थिति में या ग्राम-सभा के नकारात्मक प्रतिवेदन में ग्राम-पंचायतों की योजनाओं पर विचार, उनमें सुधार आवश्यक होगा– यह कहीं नहीं कहा गया है। इसे उपयुक्त तरीके से शामिल किया जाना चाहिए।
- गरीबों एवं अन्य लाभुकों के चयन (vi), जन-सामान्य के बीच चेतना, एकता एवं सौहार्द अभिवृद्धि (ix), भूमि-जल-वन जैसे प्राकृतिक संसाधनों का संविधान एवं विधिसम्मत प्रबन्ध (xi), पशु-सम्बन्धी लेखा रखना (xxix); जन्म-मृत्यु-विवाह अभिलेख रखना (xxvi), जनगणना एवं अन्य सर्वेक्षणों में सहायता (xxxii), दहेज जैसी सामाजिक बुराइयों को दूर करना (xxxvii), अनुसूचित जाति-जनजाति-पिछड़े वर्गों की दशा सुधारने एवं अस्पृश्यता निवारण सम्बन्धी आधिकारिक आदेशों का क्रियान्वयन (xxxviii), अपंग महिलाओं/बच्चों की सहायता (xxxxx) जैसे कृत्य ग्राम-सभा को दिये गये हैं। इन कृत्यों की तार्किक निष्पत्ति यह बनती है कि गरीबों की सूची फाइनल करने, ग्राम के अन्दर के विवादों के निपटारे, प्राकृतिक संसाधन - पशुगणना, जनगणना जैसे सर्वेक्षण करने और दस्तावेज बनाने, जन्म-जाति-विवाह-मृत्यु प्रमाण पत्र जारी करने, सामाजिक सुधारों एवं कल्याण कार्यक्रमों को चलाने का निर्णायक अधिकार ग्राम-सभा को मिले। उनके आँकड़ों को प्रामाणिक तौर पर मान्य किया जाए, वैधानिक-प्रशासनिक मान्यता दी जाए।
- भूखमरी, गरीबी, बाल मृत्यु-दर, मातृ मृत्यु-दर, कुपोषण, निरक्षरता घटाने-मिटाने का लक्ष्य एवं आवश्यक निधि ग्राम-सभा को दी जाए और उन्हें वांछित स्वतन्त्रता और अपेक्षित सहयोग क्रियान्वयन में दिया जाए।

यह कहीं कृत्यों में दर्ज नहीं है, पर इन पर ग्राम-सभा को प्रभावी भूमिका मिलनी चाहिए, तभी सामाजिक विकास सूचकांक और सहस्राब्दी विकास लक्ष्य की कसौटी पर सार्थक और गरिमापूर्ण कुछ हो पाएगा।

●

गाँव की ताकत जगाने, गाँव की निर्णायकता बनाने की ओर बढ़ने की ग्रामीण पहलकदमियाँ

पंचायती राज संस्थानों की दृष्टि और परिस्थिति के अध्ययन और अवलोकन के दौरान बार-बार यह सच उभरता है कि संवैधानिक तौर पर, राजनैतिक तौर पर, वैधानिक और प्रशासनिक स्तर पर पंचायती राज संस्थानों की तमाम इकाइयों को परनिर्भर तथा कमजोर रखा गया है। गाँवों और ग्राम-सभाओं को सबसे ज्यादा वंचित रखा गया है, जबकि पंचायती राज संस्थानों की शक्ति का मूलभूत स्रोत ही गाँव है।

राजकीय/सरकारी, प्रशासनिक, औपचारिक(संरचनात्मक) उदासीनता, इरादतन उपेक्षा या सुनियोजित अवहेलना की प्रवृतियों और परिघटनाओं की तो फेहरिश्त बनायी जा सकती है। किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी देखा जाना चाहिए कि गाँव और गाँव-समर्थक शक्तियों का सच क्या है, कैसा है?

संविधान-सभा की बहस, आजाद भारत में प्रखण्ड-योजनाओं के जरिये ग्रामीण विकास-कार्यक्रमों का आरम्भ, नये सिरे से राज्यों/प्रान्तों में पंचायती राज संस्थान की कोशिशों के मूल्यांकन को अभी छोड़ दें। संविधान-संशोधन के जरिये सामान्य क्षेत्रों और अनुसूचित (आदिवासी बहुलता या आदिवासी प्रभाव) क्षेत्रों में पंचायती संस्थानों के गठन और कुछ निर्धारित भूमिकाओं को सौंपने की अनिवार्यता लागू होने के वक्त से अब तक की भूमिकाओं पर केन्द्रित रहें।

पूरे देश में पंचायती राज संस्थानों को नियमित, सक्रिय और असरदार रूप देने के सुझाव और अनुशंसाओं के लिए केन्द्रीय स्तर पर समय-समय पर बनते रहने वाले आयोगों/समितियों ने बहुत सारे महत्वपूर्ण प्रस्ताव रखे थे। पर अन्ततः जब प्रान्तों में पंचायत-चुनावों को संवैधानिक अनिवार्यता बनाने का निष्कर्ष बना, तभी बात आगे बढ़ी। तब भी यह मामला कई वर्षों तक लटकता रहा। जब संविधान-संशोधन दोनों सदनों से पारित हुआ, तभी पंचायती संस्थानों का साकार रूप क्रमिक रूप से देश के सारे प्रान्तों में खड़ा हो सका। और अब नियमित अन्तराल पर पंचायती चुनाव होने भी लगे हैं।

पूरे देश में, हर प्रान्त में, आज की तारीख में पंचायती राज के संस्थान हैं, किन्तु

हर जगह पंचायतों की एक-सी भूमिका, एक सी शक्ति नहीं है। क्योंकि प्रान्तीय कानून के विस्तृत ब्योरे अलग-अलग हैं। प्रान्तों के प्रशासन की भूमिका दिलचस्पी और दृष्टि के स्तर पर अलग-अलग है। और अलग-अलग राज्यों में पंचायती राज को लागू कराने और बेहतर बनाने के लिए जनदबाव की स्थिति भी अलग-अलग है।

झारखण्ड की स्थिति विचित्र और विशिष्ट दोनों रही। झारखण्ड के गाँवों में ग्रामीण सामूहिकता, बहुत सारे प्रान्तों की अपेक्षा जीवन्त रही। बहुत सारे गाँव में पारम्परिक या आनुवांशिक ग्राम-प्रधानों की सांकेतिक ही सही, किन्तु स्पष्ट उपस्थिति रही। गाँव की स्वायत्तता, गाँव की स्वशासन परम्परा का भावनात्मक अहसास गाँवों में बचा हुआ था। यह अहसास बार-बार नारों की शक्ल में परियोजना-विरोधी, विस्थापन-विरोधी आन्दोलनों में व्यक्त होता रहा था। इस अनुकूल स्थिति में भी यह देश का वह अन्तिम प्रान्त था; जहाँ पंचायती संस्थाएँ अस्तित्व में आयीं। जनता की स्वशासन की आकांक्षा अलग-अलग खेमेबन्दी में जटिल बनती गयी। पंचायती राज संस्थानों को स्थापित करने के सिलसिले में कुछ सहज बनी, कुछ कुटिल कूटनीति के तहत बनायी गयी गोलबन्दी ने गाँव के सामाजिक सम्बन्धों और राजनीति के सामाजिक समीकरणों को काफी बदल दिया। यह गोलबन्दी मुख्य तौर पर पेसा कानून को लेकर हुई, अनुसूचित क्षेत्रों में हुई; किन्तु इसका सामाजिक असर सामान्य पंचायती क्षेत्रों के गाँव में भी हुआ।

एक खेमा अनुसूचित क्षेत्र में पंचायती चुनावों का विरोध कर रहा था, वह ग्राम-प्रधान की पारम्परिक व्यवस्था को ही आदर्श और पर्याप्त मान रहा था। दूसरा खेमा एकल पदों पर आदिवासी आरक्षण के घोर विरोध में था। तीसरा खेमा पेसा को गाँव गणराज्य और आदिवासी स्वशासन की संवैधानिक उद्घोषणा समझता था और उसके पूरे पक्ष में था।

अन्ततः जब पंचायती चुनाव हुए, सारे खेमे अपने-अपने पक्ष में सत्ता-सन्तुलन साधने के हिसाब से चुनाव में सक्रिय रहे। चुनाव के दरम्यान ही चुनाव के तामझाम, रंग-ढंग से असन्तुष्टि बनने लगी थी। चुनाव के बाद प्रतिनिधियों के कामकाज से आम ग्रामीणों और निष्ठावान कर्मियों को यह तल्ख तकलीफ कचोटने लगी है कि पंचायती राज संस्थानों और उसके प्रतिनिधियों का ग्राम सशक्तीकरण से कोई लेना-देना नहीं रह गया है। दूसरी ओर तमाम पंचायत-प्रतिनिधि असन्तुष्ट हैं कि उन्हें वांछित सत्ता और सुविधा हासिल नहीं हुई है, नौकरशाही ही हावी है।

केन्द्र से पंचायती राज विषयक संविधान-संशोधन एवं पेसा कानून पारित होने के बाद झारखण्ड के गाँवों में, खासकर अनुसूचित क्षेत्र के गाँवों में जोश और खुशी की लहर उमड़ी थी। गाँव के तमाम संसाधनों, विकास योजनाओं और अन्य निर्णयों

पर ग्राम-सभा के अधिकार का बोध बना था। ग्राम-सभा को स्वत: अधिकारों से सम्पन्न माना जाने लगा था। गाँव-गाँव बैठकें होने लगी थीं। फैसले होने लगे थे। प्रखण्ड-अंचल के अधिकारियों, ठीकेदारों को इन फैसलों की चुनौती मिल रही थी। गाँव-गाँव के प्रवेश मार्ग पर ग्राम गणराज्य की संवैधानिक उद्घोषणा अंकित कर पत्थर गाड़े जा रहे थे। सबसे ऊँची ग्राम-सभा का एलान ग्रामीण परिवेश में गूँज रहा था। उत्साह और विश्वास का माहौल था। आज थकान और निराशा है।

उस दौर पर गौर करें। गाँव की पहलकदमी की तथ्यसंगति और दिशा का मूल्यांकन करें। हमने स्वायत्त/सम्प्रभु सर्वशक्तिसम्पन्न गाँव की एक आभासी दुनिया रच ली थी। जितना शक्तिसम्पन्न समझ रहे थे, उतनी शक्ति संविधान ने हमें दी नहीं थी। और जितनी दी थी, उतनी भी प्रशासनिक मशीनरी ने हमें लेने नहीं दी, सौंपी नहीं। सौंपे बिना मिल नहीं सकती थी, क्योंकि अब तक वे सारी भूमिकाएँ वही निभा रही थी। और गाँवों की सामूहिक शक्ति का दबाव पैदा कर हम वे भूमिकाएँ न तो ले सके और न ही समानान्तर रूप से निभाना शुरू कर सके या जारी रख सके।

दृष्टि की कमियाँ थीं। ''सबसे ऊँची ग्राम-सभा'' का नारा न तो सच्ची स्थिति व्यक्त करता था और न ही सही आकांक्षा को ही जाहिर करता था। इसकी दृष्टि भी पारम्परिक विषमता की मानसिकता से ग्रस्त थी। नीचे की चीज कमजोर और कम महत्वपूर्ण होती है और शीर्ष महत्त्वपूर्ण और सत्तासम्पन्न होता है– यही दृष्टि इस शब्दावली से व्यक्त होती थी। जमीन से कोई चीज शुरू होती हुई आगे या ऊपर बढ़ती है तो बाद वाली स्थिति ऊँचाई की स्थिति मानी जाती है। गाँव तो शिखर है ही नहीं, धरातल है, बुनियाद है, जमीन है। और बुनियाद का अर्थ कमजोर या भूमिका-विहीन नहीं। उसी के सम्बल से, उसी की सहमति से, उसी से शुरू होकर शिखर बनता है, टिकता है, ऊँचाई बनती है। वह प्राथमिकता और निर्णायकता उसे हासिल रहनी ही चाहिए। इसी दृष्टि को व्यक्त करता नारा बनना चाहिए था। ''सबसे पहले ग्राम-सभा'', ''सबसे बुनियादी ग्राम-सभा'', ''सच्ची निर्णायक ग्राम-सभा'' के बोध से लैस जानदार नारे बनने चाहिए थे।

भूरिया कमिटी-रिपोर्ट की अनुशंसाओं और उस आधार पर बने पेसा कानून को आधार बनाकर गाँव गणराज्य और आदिवासी स्वशासन का आन्दोलन बढ़ रहा था। इस आन्दोलन के दरम्यान बार-बार यह कहा जाता था कि पेसा के बाद ग्राम-सभा की अनुमति हर मामले में अनिवार्य हो गयी है। प्राकृतिक संसाधनों– जल, जंगल, जमीन, खनिज सब पर ग्राम-सभा को अधिकार मिल गया है। यह अधिकार पेसा के रूप में संविधान में दर्ज है। आदिवासी स्वशासन की भावना से प्रेरित ग्राम-सभा अभियान के सिर्फ ग्रामीण कार्यकर्ता और नेता ही ये सब नहीं बोलते थे। वे तो अपने से ऊपर के नेताओं की शब्दावलियाँ दुहराते होते थे। सारे नेताओं के भाषणों में इसे

तथ्य के रूप में बताया जाता था। भूरिया कमिटी के विचारों के प्रेरणा-पुरुष, आदिवासी स्वशासन आन्दोलन के उस जमाने के सर्वोच्च नेता और विचारक बी.डी.शर्मा भी इसी भाव में आवाहन करते थे। बी.डी. शर्मा के लेखों और भाषणों में आश्चर्यजनक भिन्नता देखने को मिलती है। लेखों में ग्राम-सभा की सर्वाधिकार-सम्पन्नता का उल्लेख नहीं है, हासिल अधिकारों की सीमाओं और अपर्याप्तताओं की स्वीकृति है। वहाँ वही लिखा गया है, जो कानूनी वास्तविकता है। व्याख्याओं के जरिये अधिकारों के आयामों को फैलाने की कोशिश कई जगह जरूर मिलती है।

बहुत सारी जन-मुहिमों में मुख्य मसलों और नारों के चारों ओर एक मिथ गढ़ा जाता है, ठोस यथार्थ के मुकाबले काफी उत्तेजक-रोमांचक-भावुक दुनिया रची जाती है और उस आवेग से जनआन्दोलन को बड़ा से बड़ा करने और दिखाने की कोशिश होती है। आन्दोलन को फैलाने की यह एक प्रचलित रणनीति है।

लगता है ग्राम-सभा आन्दोलन में भी यही रणनीति नेतृत्व द्वारा आजमायी जा रही थी। इस रणनीति से कुछ आरम्भिक लाभ मिले। लोगों का उत्साह बढ़ा, गति बढ़ी। योजनाओं से सम्बन्धित निर्णयों और संसाधनों के नियन्त्रण के मामले में गाँव की, खासकर गाँव के सक्रिय एवं मुखर लोगों की दावेदारी बढ़ी। किन्तु कालान्तर में कुछ तो स्वाभाविक तौर पर और कुछ कानून की रणनीति - रचित छवि और सीमित प्रावधानों के यथार्थ के बीच के अन्तर्विरोध के कारण सम्भावित उपलब्धियों की अनुपलब्धता के कारण बड़े हिस्से में ठहराव और हताशा गहरायी। गतिशीलता जारी नहीं रह सकी। किसी अभियान का उठान/उफान हमेशा एक-सा होता नहीं। गतिशीलता धीरे-धीरे मद्धिम होती ही है। जनभागीदारी का सिकुड़ना स्वाभाविक परिघटना है। किन्तु सचेत और दूरदृष्टिसम्पन्न नेतृत्व और रणनीति के जरिये एक नया आयाम मुहिम में जुड़ता है और मुहिम के सातत्य का पुख्ता आधार तैयार हो जाता है। वास्तविकता की समझ, बदलाव की जरूरत तथा बदलाव में जनपहल के महत्व के बोध से जनचेतना बनती है। परिवर्तन या बुनियादी सुधार की चेतना तात्कालिक परिस्थितियों, वर्चस्वशील शक्तियों और संघर्ष या पैराकारी से हासिल उपलब्धियों के अधूरेपन और सीमाओं के सटीक तथ्यपूर्ण जानकारी का तकाजा रखती है।

इस कसौटी पर यह मुहिम असफल ही नहीं, दीर्घकालिक रूप से घातक भी रही है। कार्यकर्ता स्तर पर ही नहीं, स्थानीय स्तर के जुझारू नेतृत्व के स्तर पर भी लिखित सन्दर्भों, संविधान एवं विधान के पहलुओं पर भी मौखिक बयानों को प्रामाणिक मानने की प्रवृति कायम रही है। वैधानिक-संवैधानिक दस्तावेजों को पढ़ने-समझने के मामले में आत्मनिर्भरता नहीं बनी। स्वतन्त्र विश्लेषण और चिन्तन की जगह अन्धानुकरण की परम्परा हावी रही। और इस कारण ऐसा स्वतन्त्र और

बौद्धिक नेतृत्व पर्याप्त संख्या में नहीं बन सका जो तार्किक रूप से प्रशासकों से जुझ सके, उन्हें चुनौती दे सके।

चेतना के स्तर पर उस रणनीति की और भी कई बड़ी सीमाएँ थीं। संविधान में गाँवों को अधिकार दे देने से और ढाँचों में (ऊपर के ढाँचों में) कोई बड़ा सुधार किये बिना उन ढाँचों में पंचायती राज संस्थानों और ग्राम-सभा की उपस्थिति अनिवार्य कर देने से गाँव का सशक्तीकरण हो सकता है; गाँव की निर्णायकता स्थापित हो सकती है– ऐसा एहसास/आभास देने वाला सूत्रीकरण आत्मघाती है। संवैधानिक जगह और संवैधानिक प्रावधानों से कुछ स्थिति अवश्य बदलेगी, कुछ बेहतरी अवश्य आएगी। पर कितनी बदल सकेगी, यह प्रावधानों की अन्तर्वस्तु पर निर्भर होगा। अलग-अलग तरह के प्रावधानों के अलग-अलग असर होंगे। और वे प्रावधान भी तभी कुछ दे पाएँगे, जब हम उन्हें ले पाने के लिए सचेत, समर्थ और पर्याप्त प्रयासरत हों। कुछ पाने की गारण्टी पाना चाहने वालों की प्रभावशाली पहलकदमी पर निर्भर करती है। विषमताग्रस्त अतिकेन्द्रित सत्ता की संरचना में गाँव को आसानी से कोई छोटा-सा सच्चा प्रावधान भी नहीं मिलने वाला, पूरा अधिकार तो बहुत-बहुत बड़ी और दूर की बात है। ''बहुत कुछ या सारा कुछ मिल गया है'' की रणनीति ने गाँव की पहलकदमी, संघर्षशीलता को ठण्डा करने का ही काम किया। जो मिल रहा है, उसे बटोरने के लिए दौड़ पड़ने की मानसिकता को बढ़ावा दिया। बटोरने के लिए दौड़ की गति और जूझकर लेने के संघर्ष की गति में बुनियादी फर्क होता है। एक में दाता पर भरोसा और परनिर्भरता होती है, दूसरे में खुद पर विश्वास और आत्मनिर्भरता होती है।

पर इस रणनीति की सबसे बड़ी कमी यह रही कि इसने संविधान पर, सरकार पर जरूरत से ज्यादा विश्वास की मानसिकता बनाने की कोशिश की। एक प्रातिनिधिक, वह भी अतिसीमित और संकीर्ण हित वाली प्रातिनिधिक सत्ता ग्राम-सभा जैसी प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की जनसत्ता को बगैर किसी बड़े दबाव के, कुछ लोगों की पैरोकारी और एक शासक की दरियादिली के कारण स्थापित कर दे और पूरी की पूरी संरचना के साथ उसे लागू भी कर दे- यह सोचना ही कल्पनाशीलता की पराकाष्ठा है।

इस पूरी चर्चा में संविधान की एक अजीब-सी छवि दिखती है। कोई चीज संविधान में हो गयी तो वह भारी हो गयी, महत्वपूर्ण हो गयी। जबकि हम सब यह सच जानते हैं कि संविधान में ही नीति-निदेशक तत्व हैं, संविधान में ही नागरिक के कर्त्तव्य हैं। ये उपदेश या सुभाषित से ज्यादा की भूमिका आज तक नहीं निभा सके। पंचायती राज का संकल्प नीति निदेशक तत्व में था तब भी पंचायती राज नहीं बना था। संविधान-निर्माताओं ने भी संविधान में पंचायती राज के संकल्प को जगह

मिल जाने पर सन्तुष्टि पा ली थी, भविष्य में पंचायती राज के साकार होने की उम्मीद पाल ली थी।

एक सन्दर्भ पर थोड़ा सोचकर देखें। पंचायती राज सम्बन्धी संशोधन के बाद ''ग्राम-सभा'' संविधान में दर्ज एक निकाय है। प्रखण्ड, सबडिविजन आदि संविधान में दर्ज नहीं हैं पर ग्राम-सभा प्रधान, मुखिया की शक्ति या भूमिका ज्यादा निर्णायक है या प्रखण्ड विकास अधिकारी और अनुमण्डल अधिकारी की?

ग्राम-सभा आन्दोलन के कार्यकर्त्ता और नेतृत्वकर्त्ता को संविधान-संशोधन को, प्रान्त में उस आधार पर बने पंचायत कानून को, उसके लिखित प्रावधानों की वास्तविकता को समझते हुए अपनी भूमिका ग्राम-सभा की निर्णायकता के लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए तय करनी है। यह परत दर परत सोचना है कि किस प्रावधान के तहत गाँव को क्या और कितना दिये जाने की बात कही गयी है। जो देने की बात कही गयी, वह पूरी की पूरी किस वैधानिक-प्रशासनिक प्रक्रिया में जाकर मिलने वाली है। उसे पाने के लिए अपनी कैसी भूमिका जरूरी होगी। जितना देने की बात कही गयी है, उसके आगे और क्या-क्या लेना है, कैसे लेना है। इसी तरह के बहुतेरे सन्दर्भों में अपने सामूहिक विमर्श और पहल से भूमिका निर्धारित करनी होगी।

कुछ गिने-चुने गाँवों की कुछ अलग स्थिति हो सकती है। किन्तु व्यापक फलक पर आँकें तो गाँव की पहलकदमी बड़ी कमजोर दिखती है। पंचायती राज संस्थान पर कार्यकर्ता प्रशिक्षणों के दरम्यान जब मैंने जानना चाहा कि उनके गाँवों में कौन-सी कमिटी ग्राम-सभा के द्वारा बनायी गयी है तो सभी गाँवों में बस दो समितियाँ बनी थीं। शिक्षा समिति और स्वास्थ्य समिति। सार्वजनिक सम्पदा समिति, निगरानी समिति जैसी समितियाँ कहीं नहीं थी। शिक्षा-समिति और स्वास्थ्य-समिति भी केवल इसलिए बनी थी कि सरकारी कार्यक्रमों में उनके लिए जिम्मेवारी तय थी और उस जिम्मेवारी को तय रूप से निभाने की जरूरत थी। प्राथमिक स्कूलों से जुड़ी जिम्मेवारी के लिए शिक्षा समिति तथा आँगनबाड़ी से जुड़ी जिम्मेवारी के लिए स्वास्थ्य समिति। ग्राम-सभा के एक सम्मेलन के दरम्यान कई गाँवों के प्रतिनिधियों ने कहा कि ग्राम-सभा की कार्यवाही का रजिस्टर पंचायत-सेवक/ग्राम-सेवक के घर में रहता है। समय-समय पर ग्राम-सेवक आकर उस रजिस्टर पर ग्रामीणों से हस्ताक्षर करवा लेता है। विस्थापन-विरोधी आन्दोलन की एक बैठक के दौरान गाँव के एक जागरूक समर्थक शिक्षक ने आकर कहा कि पेसा कानून के बनने के बाद भी और पंचायत चुनावों के हो जाने के बाद भी योजनाओं के निर्माण एवं क्रियान्वयन में कुछ फर्क नहीं है– सब कुछ पहले-सा ही होता है। किसी योजना के निर्माण तथा निगरानी के लिए गाँव में कभी भी बैठक देखने को नहीं मिली।

नकारात्मक पहलकदमी की घटनाएँ भी चलती रहीं। वैसे तो आज भी है पर

उन दिनों एनजीओ जमातों के बीच ग्राम-सभा की बैठकों का सिलसिला जोरों पर था। ग्राम-सभा का फैशन आदिवासी-पक्षीय होने-दिखने के लिए जरूरी सा था। परम्पराओं की आलोचना करना आदिवासी स्वशासन, ग्राम सशक्तीकरण के शत्रुओं के रूप में पहचाने जाने का जोखिम भरा दुस्साहस था। उन दिनों प्रत्यक्ष जानकारी और अखबार की खबरों से भी उजागर होता था कि एक ही गाँव में कई अलग-अलग ग्राम-सभाएँ बैठ रही हैं। उस गाँव में कार्यरत अलग-अलग गैर-सरकारी संगठन अपने सम्पर्क के लोगों की अलग-अलग बैठकें करते थे और उसे ग्राम-सभा की बैठक का नाम दे देते थे। इससे ग्राम-सभा की हवा तो बनती-दिखती हो सकती है, पर असल में इससे ग्राम-सभा की हवा निकलती थी, ग्राम-सभा का नारा हवाई नारा बनकर रह जाता था। ग्राम-सभा बाहरी संगठनों, गैर-सरकारी संगठनों की पहलकदमी का मुँहताज ही बनी रही। कई बार तो संगठनों के पॉकेट संस्थान की औकात में भी दिखी। (ऐसी परिघटना में जनसंगठनों की सक्रियता कम होने पर या सरकारी सक्रियता और हस्तक्षेप बढ़ने पर ग्राम-सभा राज्याधीन, प्रशासन- नियन्त्रित इकाई बनकर तो रह ही जानेवाली है)।

उस समय ग्राम-सभा और आदिवासी स्वशासन (एक हद तक आदिवासी पारम्परिक स्वशासन) को लगभग समानार्थक बना दिया गया था। गैर-अनुसूचित क्षेत्रों में या तो ग्राम-सभा सशक्तीकरण आन्दोलन नहीं था या काफी कम प्रचारित था, इस कारण भी इस बनती समानार्थकता को मजबूती ही मिलती गयी। इस छवि से भी ग्राम-सभा आन्दोलन की व्यापकता नहीं बनी, क्षति ही हुई। ग्राम-सभा और ग्राम-स्तरीय आदिवासी-सभा एक तो नहीं ही है। गाँव के गैरआदिवासी को स्वशासन नहीं और आदिवासी को स्वशासन अवसर– यह ग्राम स्वशासन नहीं। सिर्फ आदिवासियों को स्वशासन का अवसर प्रत्यक्ष लोकतन्त्र नहीं, जनसत्ता नहीं। यानी अवधारणा के स्तर पर आदिवासी स्वशासन और गाँव गणराज्य अलग-अलग हैं। आदिवासी पहलकदमी, एकल पद पर आदिवासी आरक्षण, आदिवासी नेतृत्व की प्रधानता के बावजूद आन्दोलन को गाँव गणराज्य, ग्राम-सभा आन्दोलन का ही नाम देना चाहिए था। आदिवासी स्वशासन की शब्दावली का उपयोग नहीं करना चाहिए था। अगर किसी कारण से आदिवासी स्वशासन की जरूरत थी भी तो उसे ग्राम स्वशासन से अलग उसके एक हिस्से के रूप में उपयोग में लाना चाहिए था। इस घालमेल से गैरआदिवासी समुदाय की दिलचस्पी और अंतरंगता ग्राम-सभा आन्दोलन के साथ बनने में दिक्कत ही होती है। इससे गाँव की पूरी आबादी की पुख्ता एकजुटता बनने में मुश्किल होती है। यह होना था, हुआ भी।

ग्राम-सभा अभियानियों ने खासकर आदिवासी स्वशासन की भावना से प्रेरित नेतृत्व ने गैर-अनुसूचित क्षेत्र के गाँवों में मुहिम चलाने की जरूरत नहीं समझी। पेसा

इलाके के ग्राम-सभा को सामान्य क्षेत्र के ग्राम-सभा से ज्यादा अधिकार है और यह आदिवासी पहचान के कारण है अर्थात आदिवासी पहचान वाले गाँव ज्यादा शक्तिसम्पन्न हैं- यह अहसास श्रेष्ठता का ऐसा गौरवबोध भरता है, जो हर गाँव को बराबर अधिकार (अधिकार के आयाम और क्षेत्र भले ही भिन्न हों) के नीतिबोध को कुन्द और निष्क्रिय करता है।

अनुसूचित क्षेत्र की ग्राम-सभा और सामान्य क्षेत्र की ग्राम-सभा की वैधानिक विषमता के कारण भी ग्राम सशक्तीकरण की सम्भावना कमजोर हुई। नगर केन्द्रित, प्रतिनिधि केन्द्रित और प्रतिनिधि केन्द्रित से ज्यादा नौकरशाही केन्द्रित (आई.ए.एस. प्रभुता) यह पूरा तन्त्र गाँव को कमजोर किए हुए है। बौद्धिकों के चिन्तन की गाँवविरागी मानसिकता के कारण ग्राम-पक्षीय बौद्धिक अभियान कमजोर और दिग्भ्रमित रहता है; यह विश्लेषण किया जा चुका है। ऐसे प्रतिकूल वक्त में तमाम गाँवों की आन्तरिक और व्यापक समताबोधी एकजुटता ही गाँव की शक्ति बढ़ा सकती है, और इस कारण विविधताओं के बावजूद गाँवों के अधिकारों की समता पर आधारित ग्राम-आन्दोलन फैलाने की संवेदनशीलता को विकसित करना जरूरी था, जो इस दौर में नहीं हुआ।

इतना ही नहीं, इससे ज्यादा विभाजनग्रस्त कोशिश, चाहे या अनचाहे, मजबूरीवश या सुनियोजित रूप से चलती रही और उसे बदलने की शिद्दत भरी कोशिश नहीं दिखी। जो चल रहा था, सहज ही उसे स्वीकार लिया गया। और भी जगह ऐसा हो रहा है, ऐसा सुनने में आता रहा। पर नीमडीह के (सरायकेला-खरसवाँ) गाँवों के बारे में तो साथी बार-बार दावे के साथ बताते रहे। वह यह कि महतो (कुड़मी) और भूमिज (आदिवासी) की उपस्थिति वाले गाँवों में सिर्फ आदिवासी उपस्थिति वाली ग्राम-सभाएँ होती रहीं। कहा तो यह जाता कि गैर-आदिवासियों, महतो लोगों को ग्राम-सभा में बुलाया ही नहीं जाता था। उस दौर में पेसा के एकल पद को लेकर महतो और आदिवासी तनाव फैला भी था। जबकि ये दो जातियाँ झारखण्ड-आन्दोलन की मुख्यशक्ति और ऐतिहासिक रूप से आपस की अंतरंग साथी रही थीं।

यह जाहिर सच है कि पंचायती संस्थानों का चुनाव न होने पर भी ग्राम-सभा का अस्तित्व होता है और इस कारण उसके अधिकार भी बने रहते हैं। ग्राम-सभा आन्दोलन यह बार-बार कहता था और माँग करता था कि योजनाओं के निर्धारण तथा लघु खनिजों पर सम्पूर्ण नियन्त्रण में ग्राम-सभाओं को भागीदारी दी जाए। प्रशासन इसे टालता रहता था। बालू घाटों पर नियन्त्रण देने और वापस ले लेने का सिलसिला चलता रहा। अर्जुन मुंडा ने अपने प्रारम्भिक मुख्यमन्त्रित्व काल में ग्राम-प्रधानों/माँझियों/मुंडाओं को अभिनन्दित करने और कुछ निधि देने का काम किया था। लगभग सारे पारम्परिक ग्राम-प्रधान इस अभिनन्दन से हर्षित थे, भावविभोर

थे। अनुग्रहित अनुभव कर रहे थे। ग्राम-प्रधानता की स्वाभिमानी गरिमा की जगह विनत अधीनस्थता की भावभंगिमा, बात-व्यवहार में व्यक्त होती रही थी। वह अधीनस्थता, याचकता अभी भी हावी है। हाँ उसे अधिकार के रूप में जाहिर करने का दिखावा भी होता है। अगस्त '2014 की बात है। गम्हरिया (सरायकेला-खरसवाँ) के ग्राम-प्रधान महासभा ने ग्राम-प्रधानों को सम्मान राशि दिये जाने का स्वागत किया। मुख्यमन्त्री हेमन्त सोरेन तथा मन्त्री चम्पई सोरेन के प्रति आभार व्यक्त किया और डाकुवों को सम्मान राशि नहीं मिलने तक चरणबद्ध आन्दोलन जारी रखने का ऐलान भी किया।

ग्राम-प्रधानों ने न तो अभिनन्दन, मान-धन, सम्मान धन पाने के दरम्यान और न ही उसके बाद भी कभी तन कर दमदार तरीके से गाँव के संविधान-प्रदत्त हकों को भी पूरा का पूरा देने की माँग की है।

मेरी समझ है कि पेसा के तहत हर स्तर पर एकल पद आरक्षण के बदले ऐसी अन्य व्यवस्था की जा सकती थी जिसमें आदिवासी समाज को ज्यादा सामूहिक निर्णायकता भी दी जा सकती थी और सामाजिक अलगाव/तनाव तथा गाँवों के बीच की विषमता की सम्भावना को भी टाला जा सकता था। पंचायत-सचिव, बीडीओ, डीएम के वर्चस्व में आदिवासी प्रतिनिधित्व/व्यक्ति के सांकेतिक एकाधिकार से ग्रामों के अधिकार में गारण्टीशुदा बढ़ोत्तरी की गुंजाइश नहीं, निर्णायकता की तो नहीं ही है। ग्राम-सभा के अधिकार क्षेत्र को बढ़ाया जा सकता था, गाँव की अधिकार-सम्पन्न समिति में आदिवासी समाज की 50 प्रतिशत से ज्यादा प्रतिनिधित्व को अनिवार्य बनाया जा सकता था। आदिवासी विषयक मामलों या आदिवासियों की एक अलग समिति बनायी जा सकती थी और उस समिति को निर्णयों पर वीटो (निषेधाधिकार) दिया जा सकता था। अनुसूचित क्षेत्र में पंचायत सचिव, बीडीओ, एसडीओ, डीसी को समस्तरीय पंचायत पदाधिकारियों के अधीनस्थ किया जा सकता था। केन्द्रीय कानून में ही; नहीं तो कम से कम प्रान्तीय कानून में ऐसा बदलाव लाने का दबाव बनाने की पहल ग्राम-सभा आन्दोलन, आदिवासी नेतृत्व करता तो तनाव घटता, ग्रामीण एकजुटता बढ़ती, आदिवासी समाज का नैतिक नेतृत्व ज्यादा सबल होता। ग्राम-सभा आन्दोलन मजबूत होता। इससे आदिवासी नेतृत्व की ताकत तुलनात्मक तौर पर कमजोर होने की आशंका की जा सकती है। पर तथ्य इस आशंका को साथ नहीं देते। आदिवासियों का नेतृत्व इस मुहिम में; ऐसे मुहिमों में पहले से है, गलत सरकारी फैसलों और योजनाओं के प्रतिरोध में पहले से है। यह नेतृत्व किसी सरकारी आरक्षण या कानूनों से नहीं है। सामाजिक सम्प्रभुता/स्वायत्तता के बोध के कारण है। उनकी अपनी सामूहिकता के कारण, संघर्षशीलता के कारण है। अन्य समाजों पर आरोपणशील होने की जगह सहअस्तित्वशील होने के कारण है।

कुछ शक्तियाँ नकारात्मक और विभाजनग्रस्त ग्राम-सभा संचालन की कार्यवाहियों से मुक्त रही हैं, ग्राम-सभा सशक्तीकरण की पक्षधर रही हैं और विषमतामूलक-अन्यायकारी परम्पराओं के विरोध में भी मुखर रही हैं। ऐसी शक्तियों ने भी अपने आन्दोलनों के दरम्यान ग्राम-सभा की स्वतन्त्र पहचान को बाधित या कुन्द करने का काम किया है। मुद्दे पर आन्दोलन का निर्णय ले रहे और नेतृत्व कर रहे संगठन अपने नाम के साथ विभिन्न ग्राम-सभा या किसी ग्राम के नाम के उल्लेख के साथ ग्राम-सभा का भी उल्लेख करते रहे हैं। ग्राम-सभा और क्षेत्रीय/प्रान्तीय/राष्ट्रीय संगठन के संयुक्त बैनर से संघर्ष के सार्वजनिक कार्यक्रमों और वैचारिक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता रहा है। संगठन के नाम के साथ ग्राम-सभा के संयुक्त उल्लेख का फैसला ग्राम-सभा की बैठक में विचार के बाद लिया गया हो– यह स्थिति भी नहीं रही है। ग्राम-प्रधान ने अपने विशेष पहल से यह फैसला लिया हो, नेतृत्वकारी संगठन ने उनसे पूछा हो और उन्होंने तत्काल आवश्यकता का ख्याल कर विशेष अधिकार का उपयोग कर अपनी सहमति दी है और बाद में कभी ग्राम-सभा की बैठक कर इसकी जानकारी दे दी हो, ऐसा भी नहीं है। बस यूँ ही नेतृत्व को वह संयुक्त नामोल्लेख उपयोगी और असरकारी लगा और उपयोग कर लिया। ग्राम-प्रधान हमेशा साथ रहते ही हैं– उनकी सहमति लेने की औपचारिकता निभाने की क्या जरूरत है– ऐसी मानसिकता नेतृत्व की रहती है। यह ग्राम-सभा के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण है, अलोकतान्त्रिक है, अनिवार्य औपचारिकता की सांगठनिक प्रक्रिया की अवहेलना है। अगर ग्राम-सभा की सहमति से फैसला होता तब वह अतिक्रमण, अलोकतान्त्रिक नहीं होता। पर तब भी ग्राम-सभा के सशक्तीकरण में अवरोधक होता। एक तो स्वतन्त्र पहचान बाधित होती है, क्योंकि अकेला नाम नहीं होता। एक गाँव में सीमित नैसर्गिक संगठन और व्यापक क्षेत्र में सक्रिय संगठन– दो भिन्न-भिन्न व्यापकता और चरित्र के संगठनों के साथ के कारण भी पहचान बिखरी-बिखरी, धुंधली हो जाती है। ग्राम-सभा के नेतृत्व की क्षमता, मुखरता और पहचान व्यापक संगठनों के नेतृत्व की तुलना में कम होने की स्थिति में (जो आज की परिस्थिति में अधिकांशत: होती ही है) ग्राम-सभा की परनिर्भर और गौण पहचान स्थापित होती है, गाँव की स्वतन्त्र पहलकदमी भी उस खास कार्यक्रम के सन्दर्भ में तो अवश्य दुष्प्रभावित होती है। ग्राम-सभा में फैसला कराकर पूरी तरह ग्राम नेतृत्व की भूमिका में कार्यक्रम को संचालित कर संगठन नेपथ्य में रहकर या घोषित तौर पर सहयोगी के रूप में रहकर दुष्प्रभाव को न्यूनतम कर सकता है। पर ऐसी सचेत और नेपथ्यभावी भूमिका तो संगठनों और उसके नेतृत्व की दिखती नहीं। ऐसी स्थिति में अलग-अलग स्वरूप के आयोजनों में अलग-अलग संगठनों का आयोजकत्व और संचालकत्व रहना ही उपयुक्त है। अगर गाँव का नाम जोड़ना

ही है तो गाँव के नाम से कोई कमिटी बनाकर उनके सह-आयोजन में कार्यक्रम होना चाहिए। वह भी ग्राम-सभा का अनुमोदन या समर्थन प्राप्त हो तो ग्राम-सभा की मान्यता बढ़ेगी। यह अनुमोदन कार्यक्रम में व्यक्त किया जाए, बैनर में लिखा जाए– यह आवश्यकता नहीं है। ऐसी परिघटनाओं और प्रवृतियों पर ग्राम-सभा के प्रधान या नेतृत्वकर्ता की ओर से सवाल, आलोचना या आपत्ति नहीं आती रही है। वे मौन सहभागी या अनुगामी की भूमिका में ही सक्रिय और सन्तुष्ट रहते हैं– यह तथ्य भी ग्राम नेतृत्व की कमजोरी, गाँव की पहलकदमी की कमजोरी को ही जाहिर करता है।

ग्राम-सभा एक निर्णायक, अधिकार-सम्पन्न निकाय के रूप में कार्यशील हो, गाँवों का सकारात्मक एवं विराट रूपान्तरण हो। ग्राम-आधारित, ग्राम-पक्षीय तन्त्र विकसित होता जाए। इसी तरह की अनेकानेक आकांक्षाएँ सचेत ग्रामीणों और गाँव गणराज्य कार्यकर्ताओं के मानस में हिलोरें लेती होती हैं। पर यह तभी हो सकेगा, ऐसी आकांक्षाएँ तभी ईमानदार मानी जा सकेंगी जब हम शर्तों पर खरे उतरें। गाँव की सामूहिकता जब प्रगाढ़ और हमेशा जीवन्त होगी, गाँव की निर्णयशीलता जब निरन्तरता और प्रखरता से लैस होगी, गाँव की जब आन्तरिक शक्ति बनेगी– बढ़ती रहेगी, जब अपने गाँव के बारे में पूरा गाँव, गाँव का हरेक व्यक्ति बाहर के लोगों (संगठनों और मशीनरियों) से ज्यादा जानने-करने का प्रामाणिक दावा करेगा– तभी ग्राम निर्णायकता की नींव खड़ी होगी। और यह कानूनों, निर्देशों, घोषणाओं, अधिसूचनाओं, सरकारी नियमावलियों से नहीं होने वाला। आपसी समझदारी से, गाँव की अपनी चुस्त-दुरुस्त टीम से, सहज और नियमित गतिविधियों से, सामूहिक विमर्श और कार्यवाहियों के एक जीवन्त केन्द्र से होगा।

सशक्तीकरण शासन की इकाइयों द्वारा पारित क्रियान्वित फैसलों पर ही पूरी तरह और प्राथमिक तौर पर निर्भर नहीं होता। यह बोध बनने के बाद ही ग्रामीणों की पहलकदमी शुरू हो सकती है। सत्ता या निर्णायकता के लिए राज्य-सरकार की औपचारिक मान्यता अनिवार्य है– इस भ्रम से मुक्त होने की जरूरत है। अनौपचारिक या समानान्तर सत्ता के विभिन्न नकारात्मक एवं सकारात्मक रूप समाज में कार्यशील रहते हैं। इस सच्चाई को हम अक्सर देखते, महसूस करते हैं। इस अनुभूति की गहरी समझ बनाकर गाँव की सकारात्मक अनौपचारिक/समानान्तर शक्ति या सत्ता या निर्णायकता को रचने की प्रक्रिया की धारावाहिकता बनायी जा सकती है। और तब उस निर्णायकता– अनौपचारिक सत्ता को मान्यता दिलाने की ओर बढ़ा जा सकता है। ग्राम-सत्ता को बुनियादी सत्ता की हैसियत के रूप में स्थापित किया जा सकता है। यह भारी फेरबदल के बाद बड़े बदलाव के साथ होगा। यह एक दीर्घकालिक प्रक्रिया होगी। पर तरीका कमोबेश ऐसे ही सिलसिलों से गुजरेगा। सत्ता की भ्रूण/

बीज या तरल शक्ति ही क्रमशः विकसित होते-होते वैधानिक प्रक्रियाओं में भी (ही नहीं) दखल देते-देते सम्पूर्ण निर्णायक औपचारिक/वैधानिक/संवैधानिक और वास्तविक कार्यशील सत्ता की शक्ल लेगी। और उसके बाद भी ग्राम-निर्णायकता गाँव की सामाजिक-सांस्कृतिक-नैसर्गिक सामूहिक क्रियाशीलता के रूप में हस्तक्षेप कर वैधानिक रूपों को निखारती रहेगी। औपचारिक सत्ता की उत्पन्न होती जड़ताओं को तोड़ती रहेगी।

आपराधिक गिरोहों की नकारात्मक/समाजद्रोही सत्ता, माओवादी क्रान्तिघोषी विवादास्पद और जटिल चरित्रवाली सत्ता, राज्येतर सत्ता के स्पष्ट मिसाल हैं। इनसे कम असरदार, कम चर्चित राज्येतर अनौपचारिक सत्ता के तरल रूप (शक्ति या प्रभावशीलता के रूप में हम अक्सर उनका जिक्र करते हैं, सत्ता के साथ उनके रिश्ते की सूक्ष्मता को समझने के लिए इस शब्दावली में बात हो रही है) अपने आस-पास के संगठनों, उनकी सांगठनिक प्रक्रियाओं या समय-समय/कुछ विशेष प्रसंगों पर दमदार रूप से व्यक्त होनेवाली गतिविधियों से इस प्रक्रिया को समझा जा सकता है।

पूजा के वक्त मुहल्ले में घर-घर दबाव डालकर या सड़कों पर गाड़ियों को रोककर चन्दा वसूलने की गतिविधियों को देखें। वे सत्ता/आरोपण, शक्ति प्रदर्शन अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिए सामूहिक दबाव के क्षणिक या अल्पकालिक रूप ही हैं न। एक छपा हुआ रसीद और साहसी– पहलकारी और दबंग समूह– बस इतने से एक सत्ता बन जाती है। और जब तक एक पक्ष या अन्य कोई शिकायत न करे, यह एक मान्य अनौपचारिक सत्ता के रूप में प्रभावी भी होती है। अनौपचारिक सत्ता और कानून-विरोधी सत्ता में हल्का ही सही, एक फर्क होता है।

किसी संगठन की गतिविधि को देखें। वह रजिस्टर्ड हो भी सकता है और नहीं भी। संगठन और अभिव्यक्ति का अधिकार संविधान से हासिल है। इस कारण वह संविधान-सम्मत भी है। संगठन का अपना केन्द्र होता है, अपनी निर्णय-प्रक्रिया होती है, अपना बैनर-बोर्ड होता है अपना छपा पैड होता है, अपना मुहर होता है, अपने निर्धारित पदाधिकारी होते हैं, समय-समय पर प्रसारित किए जाने हेतु विचार-विश्लेषण-घोषणाएँ होती हैं, कुछ कार्यक्रम होते हैं। और वह संगठन एक शक्ति के रूप में अपनी पहचान समाज में बना लेता है। उसे एक सांगठनिक सत्ता का नाम दिया जा सकता है। यह अनौपचारिक, गैरसरकारी सांगठनिक सत्ता राज्य सत्ता के साथ इण्टरएक्ट भी करती है और अपनी बात कई बार सरकार से मान्य भी करा लेती है। यानी अपनी बात सत्ता के फैसलों में शामिल भी करा लेती है। आन्दोलनों (जो ज्यादा गतिशील और माँग केन्द्रित सांगठनिक सत्ता के रूप में चिन्हित की जा सकती हैं) के दौरान यह प्रक्रिया और भी ज्यादा स्पष्ट रूप से दिखती है।

सामान्य जन की पहलकदमी, ग्रामीणों की गतिशीलता एक और दृष्टि-भ्रम के कारण ठिठकी रहती है। हम सब आम तौर पर किसी भी स्थिति को बस गलत या सही के रूप में देखते हैं, हाँ या ना के रूप में सम्बोधित करते हैं। दो पक्षों, दो ध्रुवों में ही रहने वाली स्थिति हमेशा होती नहीं। सत्ता, कानून को परम और निर्णायक कसौटी के रूप में देखने की मान्यता और मानसिकता भी इसी दृष्टिभ्रम और उससे उत्पन्न भ्रमित या असंगत फैसले का शिकार होती है। यहाँ तो शब्दावली और शब्दार्थ भी उसी अर्थविकृति, अर्थविसंगति या भ्रामकता से ग्रस्त है। कानूनी और गैरकानूनी दो ही शब्द आम चलन में हैं। गैरकानूनी कहने से आपराधिक या कानून के खिलाफ का अर्थभाव ही संप्रेषित होता है। यानी जो कानूनी नहीं है वह सब गलत है, आपराधिक है, दण्डनीय है, ऐसा माना जाता है। जबकि कोई कानून से इतर या कानून से अलग यानी गैरकानूनी (विधानेतर) बात नैतिक, संवैधानिक, मानवीय मूल्यों की कसौटी पर कानून से भी ज्यादा श्रेष्ठ और बेहतर हो सकती है। कानूनों में सुधार की गुंजाइश भी इसी अन्तर्निहित सम्भावना के कारण होती है। गैरकानूनी और कानून-विरोधी को एक-सा लेने के भ्रम से मुक्त होकर कानूनों से आगे, कानूनों से बेहतर या कानून न दे रहा है फिर भी जरूरी और उपयोगी है– और करने योग्य है–इस भावना के साथ निश्शंक भाव से गैरकानूनी गतिविधियों की सकारात्मक शृंखला चलाने-बढ़ाने में ग्राम सशक्तीकरण/निर्णायकता अभियान को तत्परता से जुट जाना चाहिए। तभी गाँवों की आन्तरिक, प्रतिरोधक तथा सृजनशील शक्ति बनेगी।

वांछित दिशा में बढ़ने के लिए आन्तरिक शक्ति-निर्माण के ये रूप और क्रियाकलाप आवश्यक लगते हैं :

- सामाजिक गाँव या उसके टोले का एक सुव्यवस्थित कार्यालय और सभाकक्ष विकसित किया जाए। उसमें दस्तावेज-संग्रहण की विशेष व्यवस्था तथा कम्प्यूटर हो। केन्द्र पूरी तरह कार्यशील अवस्था में हो। गाँव में बिजली के विकल्प में सौर-ऊर्जा की व्यवस्था केन्द्र के लिए हो सकती है।
- ग्राम-सभा/टोला-सभा की हर माह कम से कम एक बैठक हो। यह बैठक ग्राम-प्रधान द्वारा बुलायी गयी हो और ग्राम-प्रधान उसकी अध्यक्षता भी करे। संचालन के लिए गाँव के किसी अन्य सक्षम व्यक्ति को चुना जा सकता है।
- 18 साल पूरा होते ही उस ग्रामीण व्यक्ति को ग्राम-सभा के विधिवत सदस्य के रूप में दर्ज कर लिया जाए।
- बैठकों में आनुपातिक रूप से कम भागीदारी वाले समूहों तथा कमजोर एवं अधिकार वंचित समूहों की अलग सभा आयोजित करने का चलन बनाया

जाए। इसमें ग्राम-सभा की पिछली बैठक की जानकारी, उस पर टिप्पणी तथा अगली बैठक के लिए सुझाव भी माँगा जा सकता है।

महिला-सभा, दलित-सभा, बाल-सभा जैसी आवश्यकतानुसार अलग-अलग सभाएँ की जाएँ।

- ग्राम-सभा गाँव के सर्वमान्य/बहुमान्य सीमांकन के साथ गाँव का नक्शा तैयार करे। इस नक्शा के साथ वास्तविक कब्जा के उल्लेख के साथ जमीन की दावेदारी का समग्र विवरण भी रखा जाए।
- परिवार-सदस्य विवरण, कुल आबादी, जन्म, मृत्यु, शादी आदि के सम्पूर्ण विवरण तथा अन्य अद्यतन विवरणों के साथ ग्राम कार्यालय में गाँव का रजिस्टर अवश्य रखा जाए।
- गाँव के व्यक्तियों का जन्म, उम्र, जाति, वैवाहिक स्थिति, रोजगार/नौकरी, शैक्षणिक योग्यता, ग्राम में उपस्थिति की स्थिति (जैसे बाहर या गाँव में), भूसम्पत्ति, मकान, अन्य सम्पत्ति आदि का सम्पूर्ण विवरण उस रजिस्टर में दर्ज किया जाए।
- गाँव की सीमा में मौजूद प्रत्यक्ष दिखते प्राकृतिक संसाधनों का पूरा लेखा-जोखा लिया जाए और उनका अद्यतनीकरण होता रहे। प्रकार और नामवार पेड़ों की संख्या, जलनिकाय का क्षेत्रफल एवं आयतन, जानवरों की संख्या का नियमित लेखा-जोखा रखा जाए और उसका अद्यतनीकरण किया जाए।
- आमदनी के अनुपात में एक निश्चित न्यूनतम (अधिकतम स्वेच्छानुसार) राशि या जींस (सामग्री) प्रति बालिग सदस्य से अंशदान (ग्रामीण अंशदान) लिया जाए और ग्राम-सभा की अपनी निधि बनायी जाए।

इस निधि का उपयोग सुनिश्चित हो। गाँव का कोई बेहद जरूरी विकास-कार्य, चिकित्सा और भुखमरी की स्थिति में भोजन जैसे गिने चुने मदों में ही इसे खर्च किया जाए। कार्यालय दस्तावेज-संकलन एवं संग्रहण आदि का खर्च प्राथमिक रूप से इसी निधि से हो। इस खर्च के मामले में गाँव को आत्मनिर्भर होना चाहिए।

- ग्राम-सभा अपनी ओर से प्रमाण-पत्र जारी करे। ग्राम-दस्तावेजों का सत्यापन करे। प्रस्तावों का अनुमोदन करे। ये प्रमाणन, सत्यापन, अनुमोदन उन्हीं विशेष सन्दर्भों में होगा, जिनमें ग्राम-सभा की जानकारी स्वतः ज्यादा प्रामाणिक/तथ्यपूर्ण हो तथा जो प्रत्यक्षतः और प्रधानतः गाँव के सरोकार से जुड़े हों। पुश्तैनी ग्रामवास, ग्राम में जन्मे और गाँव में मरे व्यक्तियों का जन्म एवं मृत्यु प्रमाण पत्र, जाति एवं जनजाति प्रमाण-पत्र, विवाह प्रमाण-पत्र, जमीन घर के कागजात के सत्यापन, गाँव में प्रस्तावित एवं चल रही

योजनाओं और कार्यक्रमों तथा उनसे जुड़े लोगों के बारे में आवश्यक सत्यापन और अनुमोदन आदि।

- जहाँ भी (सरकारी, निजी सभी जगह) इस तरह के प्रमाण अनुमोदन एवं सत्यापन की जरूरत हो वहाँ सम्बद्ध ग्राम-सभा के द्वारा जारी प्रमाण, अनुमोदन एवं सत्यापन के पत्र आवश्यक किए जाने चाहिए। अनिवार्य नहीं भी किये गये हों, तब भी सहायक कागजात के रूप में इसे संलग्न किया जाए या ग्राम-सभा द्वारा सम्बद्ध स्थानों पर प्रेषित किया जाए।
- ग्राम-सभा की कार्यकारिणी या कार्यकारी टोली बनायी जाए। सभी सदस्यों के हिस्से किसी-न-किसी स्पष्ट कार्य का प्रभार हो। कार्य स्थिर या अपरिवर्तनीय खाकों में न हों, जरूरत के हिसाब से तय होते रहें।

विधायी, कार्यपालक और न्यायिक विषयों पर विमर्श एवं प्रस्ताव-निर्माण आदि के लिए इन क्षेत्रों की अलग-अलग टीमें भी बनायी जाएँ।

- गाँव से जुड़े, गाँव में आने-जाने वाले या गाँव के सहयोगी के रूप में भूमिका निभाने को तैयार लोगों की एक समर्थक/सहयोगी सूची ग्राम-सभा से तय की जाए। इन्हें आमन्त्रित रूप में अपेक्षित परामर्श एवं तकनीकी सहयोग के लिए विविध टीमों से जोड़ा जाए। जाहिर है, यहाँ गाँव से बाहर के उन लोगों की बात की जा रही है, जो उस गाँव के साथ सकारात्मक संवेदनात्मक जुड़ाव रखते हैं।
- ग्राम सीमा के अन्दर के निजी और सार्वजनिक जमीन के पेड़ों को काटने और बेचने की अनुमति ग्राम-सभा द्वारा दी जाए। (अभी यह भी वन-विभाग के जिम्मे है)।
- ग्राम सीमा के अन्दर के विवादग्रस्त जमीन पर ग्राम-सभा की सूचना और चेतावनी के साथ विवाद की जानकारी वाला बोर्ड लगाया जाए।
- गाँव के प्रवेश और निकास बिन्दुओं पर ग्राम-सीमा की ओर से स्वागत/आवश्यक निर्देश/विदाई के सन्देश लिखे हों।
- केन्द्र और प्रान्त की नीतियों, विधेयकों, आदेशों, गजटों और नियमावलियों एवं अन्य आवश्यक दस्तावेजों का संकलन किया जाए। ग्राम से सीधे सम्बन्धित विधेयकों, नीतियों आदि पर समय-समय पर पूरे ग्राम-सभा या ग्राम-सभा के प्रभारियों और रुचिशील लोगों की चर्चा की जाए। इसके लिए बाहर से विशेषज्ञ एवं अन्य सहयोगियों को भी बुलाया जाए। चर्चा के निष्कर्षों, अनुशंसाओं, प्रासंगिक टिप्पणियों, प्रस्तावों को ग्राम-सभा की ओर से समुचित जगह भेजा जाए।

- मुखिया, जिला-परिषद अध्यक्ष, विधायक, सांसद, मन्त्रियों, सचिवों से/को गाँव से सम्बद्ध मामलों पर आवश्यक स्पष्टीकरण माँगा जाए, सुझाव दिया जाए, माँग की जाए।
- सरकार के तमाम अंगों और विभागों से उनके कार्यवाहियों, निर्णयों की जानकारी ग्राम-सभाओं को भेजने की अनिवार्य प्रक्रिया बनाने और लागू करने सम्बन्धी मांग-पत्र ग्राम-सभाओं की ओर से भेजी जाए।
- लोकसभा और विधानसभा में हुई बहसों पर रोज प्रभारियों और रुचिशील लोगों की घण्टे-दो घण्टे बात हो और उनके कुछ चुने मुद्दों की जानकारी ग्राम-सभा की बैठक में दी जाए या उस पर नेतृत्व टीम द्वारा लोगों से गपशप की जाए।
- लोकसभा और विधानसभा के सत्रों के वक्त ग्राम-सभा के चुने हुए प्रतिनिधियों को दर्शक सह श्रोता दीर्घा में भेजा जाए।

इसी तरह की अन्य पहलकदमियाँ ग्राम-सभा तय करती रहे, अमल करती रहे।

●

उपान्त

इस अध्ययन एवं लेखन का एक ठहराव आ चुका है। यह एक विराम है। अन्त नहीं, ठहराव है, मुकाम है। हम सभी अन्त नहीं, अनन्त यानी निरन्तरता; अन्तिम नहीं अन्तरिम की निष्कर्ष अवधारणा में विश्वास करनेवाली सतत चिन्तनरत, सृजनरत मानवीयता के साधक हैं, बने रहना चाहते हैं। यहाँ जो बातें निष्कर्ष-सी आ रही हैं, यहाँ जो परिणति है, वह भावी चिन्तन और सृजन का बीज-तत्व है।

हमने संविधान-सभा की पंचायत सम्बन्धी बहस को अपारम्परिक तौर पर रखा है, विस्तार से जगह दी है। सन्दर्भों, स्रोतों, उद्धरणों के उल्लेख के दरम्यान अक्सर हम सब जाने-अनजाने उनके मूल अन्तर्वस्तु या रचनाकार की भावना से अन्याय कर जाते हैं, बड़ी बेरहम और अनावश्यक कटौती करते हैं। सन्दर्भ और उद्धरणों की स्वायतता, मौलिकता छीन जाती है; वह उपयोगकर्ता के विश्लेषण का एक गौण, सहायक, कच्चा उत्पाद-तथ्य भर बनकर रह जाता है। इस कारण अक्सर अंश-तथ्य, अंश-निष्कर्ष से साक्षात्कार हो पाता है। पूरे परिप्रेक्ष्य-प्रवृत्ति-परिघटना से यथासम्भव आमना-सामना भी नहीं हो पाता। इस कारण जब तक संक्षिप्तता अपरिहार्य न हो; बहुपक्षीयता या विवाद से भरी घटनाओं और विमर्शों को न्यूनतम कटौती, आवश्यक कटौती के साथ रखकर ही समस्या और समाधान दोनों को तथ्यपूर्ण और व्यवहार्य/कारगर तौर पर देखा-दिखाया जा सकता है। इसी दृष्टि से वह गैरपारम्परिक विस्तार दिया गया है।

संविधान-सभा की बहस में आयी बातों के आधार पर कई महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

इस बहस में पंचायतों के अस्तित्व के बारे में दो तरह के तथ्य आते हैं। यह भी हो सकता है कि ये दो स्थितियाँ अलग-अलग क्षेत्र में अस्तित्व में रही हों। और इन दोनों स्थितियों का कहीं-कहीं सहअस्तित्व भी हो। कई वक्ताओं ने पंचायतों के अच्छी तरह रो चलने और समाज के लिए कुछ सार्थक-लाभप्रद किये जाने के उद्धरण दिये हैं। और कई वक्ताओं ने ग्राम-पंचायतों के हाथ से जानबूझकर आत्मनिर्भरता या वित्तीय सक्षमता के हर मौके छीनने पर दुख जाहिर किया है।

बहस से यह साफ-साफ उभरकर आता है कि संविधान-निर्माताओं का बहुमत गाँव को विनाश, संकीर्णता, अशिक्षा का स्रोत मानकर उसकी भर्त्सना करने; उसे उपेक्षित मिटने के लिए छोड़ देने का विरोधी था। किन्तु साथ ही यह तस्वीर भी उभरती है कि बहुमत संविधान की बालिग मताधिकार तथा प्रान्त और केन्द्र की शासन संरचना के साथ था। सहायक संस्था के रूप में पंचायती इकाइयों से बहुमत का एतराज न था, पर वे इस संस्था को प्रान्त के क्षेत्र का विस्तार समझते थे, प्रान्त की जिम्मेवारी मानते थे और संविधान में पंचायती राज का विस्तृत विवरण उन्हें आवश्यक नहीं लगता था। अधिकांश लोग बालिग मताधिकार के प्रावधान से चमत्कृत थे। उसमें इतनी विराट रूपान्तरकारी शक्ति देखते थे, जिससे पूरा देश गतिमान हो जाएगा, बड़ी-बड़ी समस्या का समाधान हो जाएगा।

संविधान के प्रारूप-निर्माण, बहस और नीति-निदेशक तत्व की हैसियत और उसमें पंचायती राज सम्बन्धी अनुच्छेद के समावेश की पूरी प्रक्रिया को देखने से कई बड़ी त्रासद सच्चाइयाँ उजागर होती हैं।

संविधान के प्रारूप-निर्माण के लिए जो भागीदारी निर्धारित की गयी थी उसका पूरा निर्वाह नहीं हुआ। कुछेक ने, पूरी गम्भीरता से एक व्यक्ति ने ही संविधान की रूपरेखा बनायी। सहभागिता के घोर अभाव को दूर करने के लिए संविधान-सभा ने कोई इन्तजाम नहीं किया, सक्रिय भागीदारी की सम्भावना वाले सदस्य नहीं जोड़े। शासन संचालन की जारी भूमिका को संविधान गढ़ने की भूमिका से बहुत ज्यादा तरजीह दी गयी। बहुत तीखी चुभती सच्चाई है कि सत्तानिष्ठा/सत्तामोह में देश का शीर्ष नेतृत्व-वर्ग इतना व्यस्त या मगन था कि उसने भावी शासन के बुनियादी मूल्य, महत्वाकांक्षी किन्तु साथ ही सुस्पष्ट ठोस उद्देश्य और विकेन्द्रित-लोकसहभागी संरचना का तानाबाना बनाने के विराट उद्यम में वक्त देने की जहमत नहीं उठायी। संविधान में 1935 के इण्डिया एक्ट की बहुत-सी बातें मिलती हैं। आजाद होने के बाद भी बिना नाम बदले, बिना साल बदले, प्रावधानों में तनिक भी फेरबदल किये बगैर खुशी-खुशी गुलामी के दिनों के अधिकांश कानून गौरवशाली विरासत की तरह ले लिये जाते हैं। पर उसमें से पंचायती संस्थानों की संरचना को छोड़ दिया जाता है।

संविधान पास कराने की आश्चर्यजनक जल्दीबाजी दिखती है। पंचायती राज के समावेश पर सलाह देते वक्त संवैधानिक सलाहकार कम समय होने का हवाला देते हुए बाद में विस्तारित प्रावधानों को जोड़ने की सलाह देते हैं तो उस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं आती। कोई भी यह नहीं कहता कि समय बढ़ाया जाए और ज्यादा अच्छा संविधान बनाया जाए। फिर से संविधान का प्रारूप लिखा जाए, चौथा-

पाँचवाँ-छठा जितने क्रम का भी प्रारूप हो, पर ऐसा प्रारूप हो जो सारे सरोकारों को सम्बोधित करे, सारे सवालों का जवाब दे, बाद के लिए बकाया न छोड़ा जाए। आजादी लेने में आत्मघाती जल्दबाजी, संविधान को अन्तिम रूप देने में भी वही हड़बड़। इसी हड़बड़ी में कुछ पंक्तियों में समेटकर पंचायती राज के प्रावधान को नीति-निदेशक में डाला गया।

नीति-निदेशक तत्व तो संविधान का एक अनसुलझा रहस्य है। राज्य की प्रतिबद्धता, दायित्व और उद्देश्यों की झलक देने वाली बातों को नीति-निदेशक तत्वों में डाल दिया गया। और यह कह दिया गया कि इन्हें वैधानिक कार्यवाही के दायरे में नहीं रखा गया है। अर्थात जिस तरह मूलभूत अधिकारों और शासन की बुनियादी संरचना और प्रक्रिया के उल्लंघन को लेकर कोई नागरिक न्यायालय जा सकता था, उस तरह नीति निदेशक तत्वों की उपेक्षा को लेकर नहीं जा सकता था। यानी राज्य उनकी जिम्मेवारी से मुक्त था। नीति-निदेशक तत्व राज्य की गैरजिम्मेवार, अप्रतिबद्ध, संकल्पहीन सदिच्छाएँ थीं। ऐसा क्यों किया गया– यह पता नहीं चलता, समझ नहीं आता।

नीति-निदेशक तत्व का पंचायती राज विषयक अनुच्छेद राज्य को सम्बोधित करता है। राज्य का अर्थ केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकार दोनों होता है। पर केन्द्र-सरकार ने कुछ नहीं किया। संविधान बनाते वक्त भी यही मानस था कि यह प्रान्तीय सरकार की जिम्मेवारी है।

बहुत प्रामाणिक तौर पर नहीं कहा जा सकता। पर आजाद भारत के प्रारम्भिक शासन-काल से सम्बन्धित जो विवरण दिखते हैं उनसे लगता है कि इस दौर में पंचायती राज संस्थान सबसे बुरी बदहाली में रहे। उन्हें उपेक्षित और निष्क्रिय छोड़ दिया गया। केन्द्र-सरकार की पहलकदमी सामुदायिक विकास खण्डों के निर्माण पर केन्द्रित रही। इन विकास प्रखण्डों/प्रखण्ड विकास में उपेक्षित जनसहभागिता न मिलने पर देश के प्रधानमन्त्री पंचायती राज संस्थानों की ओर मुड़े। जाहिर है पंचायती राज विकास की एजेंसी के रूप में बरते गये। इस दौर से लेकर आज तक पंचायती राज संस्थान दोहरेपने की मार झेलने को अभिशप्त हैं। इनकी घोषणा स्वशासन के संस्थानों के रूप में होती है पर इनकी संरचना ब्यूरोक्रेसी की परनिर्भर सहायक विकास एजेंसी की होती है।

संविधान-सभा की बहस में बहुत ही महत्वपूर्ण सुझाव आये थे। बहुत ही तार्किक विश्लेषण ग्राम-पंचायत व्यवस्था के पक्ष में आये थे। इनमें से बहुत सारे जानदार वक्तव्यकारों का नाम भी आज जाना-पहचाना नहीं लगता। इनके वक्तव्यों की अन्तर्वस्तु और सुझावों को स्वीकारने में कोई असहमति नहीं हो सकती थी और

अगर उन्हें जोड़ लिया जाता तो संविधान का लोकतान्त्रिक प्राणतत्व काफी सशक्त हो जाता, देश की दिशा ज्यादा जनपक्षीय, समतामुखी होती। ज्यादा व्यापक एवं सामुदायिक प्रतिनिधित्व तथा लोकतान्त्रिक तरीके से संविधान-सभा बनाई जाती, समाजवादी बहिष्कार न कर शामिल होते तो ज्यादा ग्रामपक्षीय, गरीबपक्षीय संविधान बनने की गारण्टी होती। लेकिन फिर भी बहसों को देखकर लगता है कि जितनी संवेदनशील और सजग प्रतिभाएँ संविधान-सभा में मुखर थीं, उनके स्वरों को प्रारूपकार, संचालक अगर प्रारूप में जगह दे पाते तो भी मौजूदा संविधान से ज्यादा संगतिपूर्ण संविधान बनता।

बहस के बड़े हिस्से में खोखलापन, अन्तर्विरोध और असंगति भी थी। बहस के आरम्भ में ही ग्राम-पंचायत की व्यवस्था के न जुड़ने के पक्ष में बोलते हुए अम्बेडकर ने गाँवों की नकारात्मकता के बारे में जो कहा वह तथ्यसंगत तो नहीं ही था, खुद में अन्तर्विरोध से भी भरा था। गाँव के प्रति दुराग्रह की वह तात्कालिक और भावुक उग्र अभिव्यक्ति थी। भावुक उग्रता के असन्तुलन में वे असली लक्ष्यवेध से भटक गये। बहस या आक्रमण प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व बनाम अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व, पूरे गाँव का एकल मत बनाम हर बालिग का मताधिकार पर केन्द्रित होना चाहिए था। इस मुद्दे पर कई गांधीवादी और ग्रामपंचायत-समर्थक प्रवक्ता (सभी नहीं) गलत जगह पर थे, प्रतिगमन के जोखिम के घेरे में थे।

तथ्य गौर करें। गाँव स्वयं में जड़-गतिहीन, अज्ञानता और संकीर्णता का गढ़ नहीं था। गाँव के कारण जाति की प्रतिगामी संस्था नहीं थी। जाति के कारण गाँव की बदहाली थी। जाति तो शहर में भी थी। बल्कि जाति के संचालन और संरक्षण का केन्द्र तो नगर था, राजधानी थी, राजतन्त्र और ब्राह्मण मन्त्रीतन्त्र था। किसी-किसी गाँव में दलित-बहुलता और इस कारण दलित प्रभुता मिल भी सकती थी, किन्तु नगरों में तो दलित प्रभुता असम्भव और घोर अपवादशीलता ही हो सकती थी। संसदीय और केन्द्रित लोकतन्त्र और संसदीय सीटों और नौकरियों में आरक्षण के इतने साल बाद भी वांछित-अपेक्षित दलित मुक्ति स्वाभाविक राजनैतिक परिघटना के तहत नहीं हो सकी है। पंचायती निष्क्रियता के दौर में दलित मुक्ति और सशक्तिकरण हुआ तथा पंचायती सक्रियता के दौर में दलित उपेक्षा और हाशियाकरण प्रान्तों में हुआ; ऐसा कोई प्रामाणिक अध्ययन हो, तो कुछ सोचा जा सकता है। सामान्य पारखी नजर से तो ऐसा नहीं दिखता। जितना स्पष्ट परिवर्तन हुआ है वह नियोजित और संगठित दलित-पक्षीय आन्दोलनों और अभियानों के कारण हुआ है।

अगर गाँवों को स्थानीय स्वशासन का अवसर देने से संकीर्णता, अशिक्षा, अन्धविश्वास, जातीयता गहराने वाली थी और इस कारण उन्हें यह स्वायतता नहीं

देनी चाहिए थी; तो इसी तर्क के आधार पर तो ग्रामीणों को बालिग-मताधिकार भी नहीं दिया जाना चाहिए था। पंचायती ग्रामीण स्वायतत्ता नकारात्मक और ग्रामीण बालिग मताधिकार की स्वायतता सकारात्मक– ऐसा निष्कर्ष हास्यास्पद और खेदजनक नहीं तो और क्या है?

सीमित तथा अभिजन-सवर्णजन केन्द्रित निर्णायकता की तुलना में सर्वजन बालिग मताधिकार क्रान्तिकारी है। उसी तरह शीर्ष-केन्द्रित संसदीय व्यवस्था की अपेक्षा सर्वजन भागीदारी वाली ग्रामीण स्वायत्तता क्रान्तिकारी है। गाँव शोषक नहीं, शोषित स्थिति में हैं, जातीय शब्दावली में उपमा दें तो शहर सवर्ण है– अभिजन है तथा ग्राम दलित है– वंचित जन है। विकेन्द्रित स्वायत्त ग्राम-पंचायत में हर गाँव में निरन्तर जातीय–वर्चस्व विरोधी राजनैतिक प्रक्रिया की गतिशीलता बनने वाली है। और कुछ क्षेत्रों में जहाँ आदिवासी, दलित और अतिपिछड़ा (दलित के लगभग समकक्ष– थोड़ा ही ऊपर) बहुजन बहुमत में हैं, वहाँ उनकी निर्णायकता की उम्मीद बनती है। केन्द्रित व्यवस्था में ऐसी आंशिक अनुकूलता भी दुर्लभ है। उसमें तो सारा कुछ शीर्ष से संचालित होता है और शीर्ष पर दलित-सत्ता काबिज होना और टिकना व्यापक, बहुसंख्यक भागीदारी वाले सतत जन अभियान के बिना निकट भविष्य में तो सम्भव नहीं है।

गाँव और दलित के बीच नैसर्गिक विरोध नहीं है। यानी उनका सहअस्तित्व असम्भव नहीं है। भूमिधारकता और दलित के बीच भी नैसर्गिक अन्तर्विरोध नहीं। ऐसा होता तो सारे दलित स्वत: शहरी हो गये होते, भूमिहीन-गैरखेतिहर हो गये होते – नौकरीशुदा हो गये होते। भूमि-अधिकार माँगना दलितों के लिए तब गलत होता। प्रश्न जातीय मुक्ति की कसौटी पर अनुकूलता-प्रतिकूलता का है। यह तो शहर के लिए भी है, संसदीय राजनीति के लिए भी है। वहाँ भी सवर्ण प्रभुत्व और जातीय भेदभाव है। और मूल चुनौती या जिम्मेवारी जाति-मुक्त या जातीयता-मुक्त (जातीय भेदभाव और वर्चस्व मुक्त) ग्राम-रूपान्तरण और नवरचना का है। यह दायित्व तो पूरी व्यवस्था, पूरे देश और एक हिसाब से पूरी दुनिया के लिए है।

अगर भावुक उग्रता जाहिर ही करनी है, भले ही वह अमल में असम्भव हो, तब तो यह सारे ग्रामीणों को नहीं, सवर्ण ग्रामीणों को और सवर्ण शहरियों को भी मताधिकार और शासन-हिस्सेदारी से वंचित करने या वंचित-जनों-दलितों को विशेषाधिकार से लैस करने का होना चाहिए। इसका एक रूप अनुसूचित क्षेत्र के शासन और पेसा कानून जैसे कानूनों में कमोबेश दिखता भी है। इसका एक नैतिक आधार भी बनता है। सवर्णों ने, तथाकथित प्रतिभावानों ने जैसी दुनिया बनायी है, बहुजन देख ही नहीं रहे, झेल भी रहे हैं। अब वंचितों को भी अवसर देकर देख लें– कौन ज्यादा अच्छी दुनिया बनाता – चलता है।

ऐसे प्रश्न पर विचार करते समय संरचना के प्रति आग्रह नहीं; लोकतान्त्रिक दृष्टि और विवेक की जरूरत होती है। जातीय उत्पीड़न, जातीय विषमता और लोकतान्त्रिक आदर्शों के बीच अन्तर्विरोध है पर इनका सहअस्तित्व भी हो सकता है। लोकतन्त्र का मतलब सम्पूर्ण समता नहीं, औपचारिक राजनैतिक या मताधिकार समता से भी लोकतन्त्र का आरंभिक ढाँचा बन जाता है। सामाजिक-आर्थिक विषमता में लोकतन्त्र अर्ध-प्रभावी होता है, इसका अर्थ यह नहीं कि लोकतन्त्र होना ही नहीं चाहिए। बल्कि उस हालत में लोकतन्त्र को और गतिशील, बहुआयामी, व्यापक और सर्वसमावेशी/सर्वहस्तक्षेपी बनाना चाहिए, तभी तो सामाजिक-आर्थिक समतातन्त्र और लोकतन्त्र की दिशा में तेजी से गारण्टीशुदा तरीके से बढ़ना सम्भव हो सकता है। जिस तरह जाति के रहते भी बालिग मताधिकार और संसदीय लोकतन्त्र का प्रावधान संविधान के लिए स्वागतयोग्य और अनुकरणीय था; उसी तरह जाति की जकड़ के बावजूद ग्राम-आधारित स्वशासन भी स्वागतयोग्य और अनुकरणीय होना चाहिए था।

अम्बेडकर के लिए ग्राम-पंचायत की व्यवस्था वैसी अस्वीकार्य, असहनीय और त्याज्य थी भी नहीं। वे सचेत थे, कभी-कभी तर्कहीनता की हद तक भी अति-सचेत हो जाते थे, इतना भर कह सकते हैं। उनकी सचेतनता इस पक्ष पर केन्द्रित थी कि दलितों की आवाज, दलितों की भागीदारी, दलितों के हित की सुरक्षा हो। इस कारण पंचायती संस्थानों में दलित तबकों के लिए प्रभावशाली आरक्षण के लिए अडिग रहते थे। बॉम्बे विधानसभा में 1930 के दशक में पंचायती कानून पर उनके विस्तृत हस्तक्षेप को पढ़कर यह समझा जा सकता है। संविधान-सभा में भी पूर्वोक्त उग्रता का दुहराव न करना तथा पंचायती स्वशासन के संशोधन को स्वीकार करना— इसी बात का संकेत देता है।

संविधान-निर्माण के सन्दर्भ में एक टिप्पणी करना सम्भवत: अप्रासंगिक नहीं होगा। संविधान बनाने में की गयी जल्दबाजी गलत थी। संविधान-निर्माण की प्रक्रिया में बकाया भागीदारी को पूरा करने के लिए संविधान-सभा का विस्तार करते रहना चाहिए था। अनसुलझे मसलों को सुलझाने और व्यक्त महत्वपूर्ण सुलझनों को शामिल करने के लिए पर्याप्त वक्त लेना चाहिए था। इसके लिए प्रारूपण-पुनर्लेखन की टीम का पुनर्गठन एवं विस्तार करना चाहिए था। कोई आफत तो आ नहीं रही थी। शासन तो चल ही रहा था। शासन कमजोर हाथों में भी नहीं था। वे साहसिक और ठोस फैसले भी ले ही रहे थे। और अगर संविधान उसी तारीख में घोषित कर ही दिया गया तो उसी वक्त यह मान लेना चाहिए था कि यह संविधान अन्तरिम है। 5 या 10 साल की अवधि के बाद पंचायती संस्थान और अन्य महत्त्वपूर्ण मसलों पर

विस्तृत प्रावधान जोड़ने तथा उतने सालों के शासनानुभव से उभरी नयी जरूरतों को सम्बोधित करने के लिए ज्यादा सुसंगत, सर्वसमावेशी, लोकतान्त्रिक प्रक्रिया से निर्वाचित संविधान-सभा बुलाकर पूर्ण संविधान बनाया जाना चाहिए था। इस वास्तविकता को सूक्ष्मता एवं गहराई से समझने की जरूरत है कि सृजन की प्रक्रिया में जो गतिशीलता और खुलापन होता है, सृजन के बाद या सृजन को सम्पन्न मान लेने के बाद वह गतिशीलता, सहभागिता और खुलापन नहीं होता। नयी बातें खासकर जनता की ओर से उभर रही बातें बाद में नहीं जोड़ी जा सकती थीं। निर्धारित प्रावधान स्वयं से ज्यादा विकसित रूप में नहीं; क्षरित रूप में ही क्रियान्वित होते हैं; क्योंकि साथ में सत्ताहित; संरचना की जड़ता भी जुड़ जाती है। और शीर्ष सत्ता-संचालक ही साथ न हो तो क्षरण ज्यादा ही होगा। नेहरू, पटेल और अन्य की पंचायती व्यवस्था के प्रति अखण्ड, प्रामाणिक पक्षधरता तो रही नहीं। इसी कारण प्रधानमन्त्री नेहरू के आरम्भिक काल में जो निर्माण, राजनीतिक-आर्थिक संस्थानों के नवनिर्माण का गतिशील दौर था, नीति-निदेशक तत्व के सारे प्रावधान; खासकर अनुच्छेद 40-घनघोर उपेक्षा ही नहीं, शासकीय आघातों का भी शिकार रहा।

गणतन्त्र बनने के बाद, संविधान के जीवन्त होने के बाद प्रान्तों में पहले से चलन में रही और नये बने कानूनों के तहत चलने वाली पंचायती संस्थाएँ घिसटती रहीं। केन्द्रीय शासन ने उन्हें कोई गतिशीलता और सहायता नहीं दी। (बल्कि प्रखण्ड विकास कार्यालयों के विकास पर फोकस के कारण पंचायतों की गतिशीलता के अवसर सिमटे ही होंगे)। बाद के दौर में पंचायती संस्थानों को गति देने की भी कोशिश की गयी। पंचायतों के मसले पर प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध रखने वाले आयोग, कार्यबल, अध्ययन दल, समितियाँ बड़े-बड़े बौद्धिकों और राजनेताओं की प्रधानता में बनती रहीं। सभी की रायों में कुछ भिन्नताएँ भले हों, अन्तर्विरोध कभी नहीं रहा। सारे के निष्कर्ष पंचायती संस्थानों को नियमित, सक्रिय, गतिशील, सशक्त बनाने के रहे। फिर भी पंचायती संस्थानों का रेंगना, दौड़ने में तब्दील नहीं हो सका। बिहार जैसे कई राज्यों में तो पंचायती संस्थानों की निरन्तरता दशकों तक भंग रही। उसके बाद संसद में कई अधूरी रही कोशिशों के बाद 73वाँ संशोधन और उसके कुछ साल बाद पेसा केन्द्रीय कानून के संवैधानिक दबाव से पंचायती संस्थान नियमित हुए। अपेक्षाकृत ज्यादा शक्तिसम्पन्न, महिला एवं वंचित तबकों की सहभागिता से सम्पन्न और वित्त-सम्पन्न हुए। कुछ प्रान्तों में अच्छा काम हुआ, ग्रामों और ग्रामीणों को सुस्पष्ट प्रभावशीलता मिली। ग्रामीण जीवन में सुस्पष्ट लाभ देखने को मिला। हाँ, कुछ प्रान्तों में बेहद कम अनुकूलता और सकारात्मकता हासिल हो सकी।

किन्तु पंचायती संस्थान एक कठोर घेरेबन्दी में ही रहे हैं। 73वें संशोधन और पेसा कानून से भी बुनियादी कमजोरियाँ दूर नहीं हुई हैं। पंचायती संस्थानों की मौजूदा हालात पहले की तुलना में निसन्देह ज्यादा सकारात्मक है, स्वागतयोग्य है, ज्यादा लोकतान्त्रिक और जनसहभागिता - मूलक है। किन्तु जिस तरह भावी सुदूर आदर्श और लक्ष्य की अव्यावहारिक/कथित समझौताहीन निष्ठा में तात्कालिक उपलब्धियों और सकारात्मकताओं को नजरअन्दाज नहीं करना चाहिए, महत्वहीन या निन्दनीय नहीं मानना चाहिए। उसी तरह तात्कालिक सकारात्मकता और फायदे की खुशी में दीर्घकालिक और बुनियादी कमजोरियों और अवरोधों को भी भूलना नहीं चाहिए।

73वें संविधान-संशोधन और पेसा कानून का उच्चमूल्यन होता है। बहुतों को लगता है कि 73वें संविधान-संशोधन में जितनी सम्भावना/अन्त:शक्ति निहित है, उसे साकार नहीं किया जा रहा है। पंचायती आयोग, जिला योजना समिति, पंचायत की विषय-सूची (11वीं अनुसूची) जैसे प्रावधानों में संघात्मकता या विकेन्द्रीकरण को नये सिरे से परिभाषित और क्रियान्वित करने की शक्ति है। इस संशोधन की अनिवार्य अपेक्षा के तहत संवैधानिक जिलों का (आज के प्रशासनिक जिलों से काम नहीं चलने वाला) पुनर्गठन किये जाने की आवश्यकता है।

इन विचारों में निश्चय ही दम है। इस सम्भावनाओं को जीवन्त बनाने के लिए राजनैतिक अभियान चलाया जाना चाहिए, इन्हें वैधानिक बनाना चाहिए।

किन्तु इसके बावजूद यथार्थ यह है कि 73वें संशोधन के बाद भी पंचायती संस्थान एवं ग्राम-सभा स्वशासन - समर्थ निकाय नहीं बना है। इन्हें आंशिक स्वायत्तता भी प्राप्त नहीं है। वे अनुच्छेद 40 की हैसियत में भी और 73वें संशोधन के बाद की हैसियत में भी प्रान्तीय सरकार की अधीनस्थ हैं। किसी भी मायने में, किसी भी पैमाने में वे आत्मनिर्णायक, स्वतन्त्र या स्वायत्त नहीं हैं। अफसरशाही को उनके ऊपर वरीयता-निर्णायकता-नियन्त्रणशीलता और वित्तीय-सामर्थ्यशीलता हासिल है। उन्हें जो मिला है, उसे संविधान-संशोधन के जरिये पूरा का पूरा छीना जा सकता है। उनके अधिकारों में प्रान्तीय सरकार जब चाहे तब कटौती कर सकती है। उन्हें जो 11वीं अनुसूची के तहत 29 विषय मिले हैं उन विषयों का हर कुछ उनके निर्णयाधिकार- कार्याधिकार में नहीं आता, बस उतना ही आता है जितना प्रान्तीय विधान और सरकारी अधिसूचना ने उन्हें दिया है। न तो उनका रिश्ता प्रान्त के साथ वैसा है, जैसा प्रान्त का केन्द्र के साथ होता है और न 11वीं अनुसूची की विषय सूची प्रान्त-सूची या समवर्ती सूची जैसी हैसियत वाली है। पंचायती संस्थानों का पुनर्गठन एवं सीमांकन प्रान्तीय पुनर्गठन जैसा नहीं है। वह तो संसदीय और विधान-सभा

निर्वाचन-क्षेत्रों के परिसीमन या विस्तार से भी ज्यादा सरल है, प्रखण्डों और जिलों के निर्माण-सा आसान है। यानी पंचायत-क्षेत्र बुनियादी शासन-क्षेत्र नहीं हैं, एक सामान्य निर्वाचन सह प्रशासन (खासकर विकास विषयी प्रशासन) खण्ड हैं। वे अपने विषयों के संचालन के लिए पूरी की पूरी प्रक्रिया, आवश्यक विधान, नियम आदि बनाने के अधिकारी नहीं हैं। कुछ नियम बनाने का अधिकार प्रान्तीय कानून ने उन्हें भले दिया है। उन्हें विधायकों और मन्त्रियों की तरह विधायी और कार्यपालक शक्ति हासिल नहीं है।

पंचायती राज संस्थानों की स्थापना का घोषित वक्तव्य स्थानीय स्वशासन लाना है, ग्रामांचल में या ग्रामस्तर पर स्वशासी निकाय बनाना है। वास्तविक गन्तव्य भी वही होना चाहिए। कोई भी पराधीन निकाय, आवश्यक नियम-कानून, वित्त, कर्मी के मामले में अधिकांशत: दूसरों पर निर्भर निकाय स्वशासन का निकाय नहीं हो सकता। कार्यक्षेत्र, विचार क्षेत्र, निर्णयक्षेत्र भले ही काफी छोटा हो; पर उस निर्धारित क्षेत्र में वह आधिकारिक तौर पर अधिकांशत: आत्मनिर्भर/निर्णायक, निर्णयक्षम और कार्यक्षम हो तो उतने सन्दर्भ में वह स्वशासन की इकाई होगी।

ग्राम-सभा और उसकी बुनियाद पर विकसित होने वाले पंचायती राज संस्थानों को सही मायने में स्वशासन की (स्थानीय सन्दर्भों में ही सही) इकाई बनना है तो इसके लिए उन्हें विकास योजना निर्माण और क्रियान्वयन की एजेंसी की भूमिका से बहुत ऊपर उठना होगा। पूरी शासन-संरचना में, पूरे संवैधानिक-तन्त्र में इनकी स्पष्ट, अनिवार्य, स्वतन्त्र स्थान और भूमिका सुपरिभाषित और अलंघ्य रूप में सुनिश्चित करनी होगी। संविधान के एक-एक हिस्से से इनकी अन्तर्क्रिया होगी, एक-एक हिस्से पर इनका असर होगा। संविधान के हर हिस्से के साथ खास तौर पर प्रान्तीय सरकार, केन्द्रीय सरकार के साथ इनका सहसम्बन्ध परिभाषित होगा। इनकी अपनी अलग विषय सूची, अपना वित्त, राजस्व एवं संसाधन, अपना कर्मी बल, अपने स्तर की नौकरीशुदा कार्यपालिका, न्यायपालिका, पुलिस प्रशासन होगा। और इन सबों में अन्य स्तरों की अन्तर्क्रिया होगी, किन्तु बाध्य करने वाली हस्तक्षेप शक्ति नहीं होगी। इसके लिए संविधान में विस्तृत संशोधन तो करने ही होंगे; प्रचलित कानूनों में भी फेरबदल करना होगा। बहुत सारे कानूनों का खात्मा करना होगा।

सच्चा स्थानीय स्वशासन, वस्तुत: विकेन्द्रित शासन या पंचायती लोकतन्त्र– जो भी नाम दें– इन्हें स्थापित करने के लिए आवश्यक संवैधानिक संशोधन या रूपान्तरण के लिए पूरी तरह स्पष्ट दृष्टि, पूरी तरह स्पष्ट घोषणाओं और प्रावधानों की आवश्यकता होगी। और उन्हें वैधानिक और सक्षम सांस्थानिक तौर पर उतारने के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति, बुलन्द जनदबाव की जरूरत होगी। इसमें पहलकारी,

निर्णायक और सचेत भूमिका विकेन्द्रीकरण की प्रतिबद्धता से लैस, गाँव की सकारात्मक अस्मिता के बोध से सम्पन्न स्वप्नदर्शी/भविष्यदर्शी समाजकर्मियों, राजनेताओं और विकल्प के नवनिर्माताओं की होगी। कानूनविदों, कानूनबाजों, नौकरशाहों या तथाकथित सलाहकारनुमा यथास्थितिवादी विशेषज्ञों को हावी नहीं होने देना होगा। अतीत के दोनों प्रकरणों में राष्ट्रनिर्माताओं एवं राजनेताओं की असावधानी, निष्क्रियता या दृष्टिदोष के कारण, विधिवेताओं – विशेषज्ञों – नौकरशाहों/सचिवों पर अतिविश्वास या निर्भरता के चलन के कारण वे निर्णायक रहे और बड़े रूपान्तरण की दो ऐतिहासिक पहल यथास्थिति में फँसकर रह गयी। बस कुछ राहत और सन्तोष का कारण बनकर रह गयी।

यह दृष्टि रखनी होगी कि पंचायती राज की संस्थाएँ सरकार के अंग या अभिकरण मात्र नहीं हैं, स्वयं अपने स्तर की सरकारें हैं, प्रत्येक स्तर की सरकार का समान महत्व है। अपनी क्षमता, सामर्थ्य एवं प्रयोग समर्थता के अनुसार वे तमाम भूमिकाओं के पालन की अधिकारी हैं। वे किसी ऊपरी संरचना का कार्यकारी अंग नहीं और न ही मात्र समन्वयकारी या परामर्शदात्री संस्था भर हैं। सवाल या कसौटी बस पैमाने या विस्तार की होगी। संविधान में स्पष्टतापूर्वक यह दर्ज होना चाहिए कि भारतीय विकेन्द्रित राज्य या शासन-तन्त्र के चार/पाँच स्तर/अंग हैं: केन्द्र, प्रान्त, जिला, प्रखण्ड या/और पंचायत। और यह पूरी व्यवस्था ग्राम-सभाओं एवं मुहल्ला सभाओं की बुनियादी, नैसर्गिक एवं प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की इकाइयों के विस्तृत आधार पर खड़ी होगी। विषयों और भूमिकाओं की बहुस्तरीय संयुक्त या समवर्ती सूची तथा केन्द्र/संघ, प्रान्त, जिला, प्रखंड, पंचायत और ग्राम/मुहल्ला की अलग स्वतन्त्र सूची भी संविधान में स्पष्ट तौर पर दर्ज करनी होगी। संविधान को सिर्फ केन्द्र-राज्य के सम्बन्धों के मानदण्डों पर नहीं; बल्कि इन सभी स्तरों के बीच के रिश्ते के मानदण्डों पर बहुस्तरीय संघात्मकता, शृंखलाबद्ध विकेन्द्रीकरण को सुपरिभाषित करना होगा। गाँव की गतिहीनता, पहलहीनता, जातीय कूपमण्डूकता/खोहबन्दी न तो गाँव को अलगाव और एकान्त में बने रहने देने, उसे स्वयंपूर्ण मानने-बरतने से टूटेगी और न ही उस पर बाहरी दुनिया के परायेपन वाले हस्तक्षेप और आरोपण से टूटेगी। गाँव को अन्तर्सम्बन्धों की एक गतिशील, निर्णायक और सर्वसहभागी शृंखला में जोड़कर जीवन्त बनाने से ही गाँव अभीष्ट और आदर्श स्वरूप की ओर बढ़ेंगे।

इस सन्दर्भ में सबसे बड़ी चुनौती दो अतिवादी दृष्टियों के अन्तर्विरोध में फँस जाने और स्वयं एक चरम पक्ष ले लेने की है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता और सामूहिकता/सामुदायिकता अक्सर एक-दूसरे के खिलाफ दिखते हैं, दिखाये जाते हैं। ग्राम-सभा

की सामूहिकता और व्यक्तिगत मतदाता की आजादी को एक-दूसरे के लिए अवांछनीय या घातक माना जाता है। दोनों एक-दूसरे की कमियों के आधार पर दूसरे को नकारते और स्वयं को स्थापित करने की प्रवृति भी रखते हैं। व्यक्तिगत पहलकदमी, स्वतन्त्रता को व्यक्तिवाद की नियति तक देखा जाता है। सामूहिकता को व्यक्तिगत आजादी पर समाज की दखलन्दाजी का पक्षपोषण मान लिया जाता है। यह टकराहट आज भी जारी है। सामूहिकता बनाम व्यक्ति की स्वायत्तता/गरिमा और अस्मिता की द्वेषपूर्ण बहस जारी है। सामुदायिक या ग्राम-तन्त्र की बात कहनेवाले संसदीय लोकतन्त्र या प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति को समाज से कटे बालूकण से बिखरे व्यक्तिगत मतदाताओं के गणितीय/निष्प्राण योग का तन्त्र कहते हैं। संसदीय लोकतन्त्र के पक्षधर गाँव गणतन्त्र को सवर्णों, पुरुषों की तानाशाही का पारम्परिक तन्त्र बताने लगते हैं। ऐसी चरम, वस्तुतः अवास्तविक और तथ्यहीन व्याख्याओं से स्थितियाँ उलझती हैं। स्वतन्त्र, विवेकी व्यक्तियों की सामूहिकता नहीं बनती और व्यक्तिवादी/स्वार्थी व्यक्तियों की निजी सत्ता तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पारम्परिक सामाजिक दमन (जिसके पीछे भी कुछ स्वार्थी अभिजन संचालक होते हैं) की सत्ता चलती रहती है। और इनके बीच तालमेल भी बना रहता है, बनता रहता है। ये दोनों तत्व मौजूदा सत्ता के अभिन्न अंग जो हैं। वैयक्तिक अस्मिता और सकारात्मक जननिर्णायकता या लोकतान्त्रिकता या सामूहिकता के बीच साझा बनाने तथा दोनों के सकारात्मक तत्वों को लेकर एक सर्वस्वीकार्य, बहुस्वीकार्य रूपरेखा बनाने की चुनौती को पूरा करना ही होगा।

एक दूसरा अवरोध सामुदायिक सांस्कृतिक आधार पर ग्रामों के बीच अधिकारों के मामले में कृत्रिम भेद रचने से उपजा है। कुछ सामुदायिकता के ग्रामों के लिए विशेष प्रावधान और संरक्षण की जरूरत है, बाकी सामान्य गाँवों के लिए ऐसी जरूरत नहीं हैं– ऐसा मिथ कुछ खास समाजकर्मियों और शासकों दोनों ने मिलकर रचा है। क्या आम गाँवों को अपनी संस्कृति और रीति-रिवाज का संरक्षण नहीं करना चाहिए? प्राकृतिक संसाधनों– खनिजों, भूमि अधिग्रहण और पुनर्वास की योजनाओं में आम गाँव के कम भूमिका का क्या औचित्य है? ऐसे भेद से गाँव की एकता का माहौल बिखरता है। ग्राम निर्णायकता की गोलबन्दी कमजोर होती है। हर गाँव की समान निर्णायकता होनी चाहिए। हर गाँव की समान वैधानिकता और अस्तित्वशीलता होनी चाहिए। समान निर्णायकता से लैस गाँव अपने-अपने भिन्न सन्दर्भों में भिन्न-भिन्न फैसले लेते रहेंगे। हर तरह के गाँवों में कुछ पारम्परिक रूप से दबे-कुचले, कमजोर, वंचित, भेदभाव के शिकार समुदाय होंगे। इनके लिए हर गाँव में, हर पंचायती स्तर में संरक्षण की प्रक्रियाएँ बनानी होंगी। उन समुदायों से

प्रातिनिधिक आरक्षण एक रूप है। पर यही पर्याप्त नहीं। ऐसे समुदायों की निर्वाचित समितियाँ होंगी तथा उन समुदायों पर प्रभाव डालनेवाले निर्णय के पूर्व उन समुदायों या उनकी समितियों की सहमति लेने या निर्णयों पर रोक लगाने लायक निषेधाधिकार जैसी व्यवस्थाएँ भी अपनानी होंगी।

तमाम गाँवों को प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अखण्ड अधिकार की धारणा को मानना होगा। हर व्यक्ति उस गाँव का अभिन्न और स्वतन्त्र इकाई है। वह गाँव उन व्यक्तियों के गरिमापूर्ण एकता से ही तो बना है। तमाम गाँवों को एकजुट होकर सच्चे स्वशासन के लिए बढ़ना होगा, लड़ना होगा। मौजूदा पंचायती राज संस्थानों, मौजूदा ग्राम-सभा विषयक प्रावधानों को सुधारते जाने का तात्कालिक व्यावहारिक रास्ता भी अपनाना है। और ग्राम-निर्णायकता आधारित विकेन्द्रित पंचायती लोकतन्त्र/ग्राम-स्वराज्य की भविष्यदृष्टि से लैस होकर नवनिर्माण की ओर भी बढ़ना है....

●

सन्दर्भ

1. *Panchayati Raj as the basis of Indian Polity—An Exploration into the Proceedings of the Constituent Assembly–1962,* Dharampal – AVARD.
2. *State Panchayat Acts—A Critical Review* – Vani, 1995.
3. *ग्राम सभा—हमारे गाँव में हमारा राज,* डा. बी. लकड़ा एस जे – ज़ेवियर समाज सेवा संस्थान, 2001
4. *जनहक* पत्रिका – फरवरी 1997 एवं अन्य अंक
5. *जनहूल*-अप्रैल 2001
6. *बाबा साहेब डा. आम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय-खंड 3* – डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, 1994
7. *जल, जंगल और जमीन पर ग्रामसभा की भूमिका एवं झारखंड सरकार की नीति*—एक दिवसीय संगोष्ठी की रपट – लोक जागृति केन्द्र, मधुपुर, देवघर, 2004
8. *एक कदम और .... ग्रामीणों की पहल*—लोक जागृति केन्द्र, 2005-06
9. *हो समाज की पारंपरिक स्वशासन व्यवस्था :* कुमार चन्द्र मार्डी – जेआरसी- सेंटर फॉर वर्ल्ड सॉलिडेरिटी
10. *संतालों की पारंपरिक स्वशासन व्यवस्था :* कुमार चन्द्र मार्डी – जेआरसी- सेंटर फॉर वर्ल्ड सॉलिडेरिटी
11. *पंचायती राज चुनौतियाँ एवं संभावनाएं :* महीपाल – नेशनल बुक ट्रस्ट, 2006
12. *भारतीय राज्य व्यवस्था की पुनर्रचना : एक सुझाव :* जयप्रकाश नारायण – सर्व सेवा संघ, 2002
13. *सामुदायिक समाज–रूप और चिंतन :* जयप्रकाश नारायण – सर्व सेवा संघ, 2002
14. *आदिवासी स्वशासन :* ब्रह्मदेव शर्मा – आदिवासी स्वशासन के लिए राष्ट्रीय मोर्चा, 1998
15. *झारखंड पंचायत राज अधिनियम एवं पेसा एक्ट–1996 :* रश्मि कात्यायन – क्राउन पब्लिकेशन्स, 2012
16. *भारत का संविधान* – विधि एवं न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, राजभाषा खंड, 1986
17. *गाँव सभा* – झारखंड सन्दर्भ केन्द्र दुमका एवं मंथन युवा संस्थान, राँची, नवम्बर 2003, दिसम्बर 2003, जनवरी 2004, सितम्बर-नवम्बर 2004
18. *गाँव आन्दोलन क्यों :* जेसी कुमारप्पा – सर्व सेवा संघ प्रकाशन, 1986
19. *झारखंड में जल, जंगल, जमीन की लोक केन्द्रित नीति* विषयक गोष्ठी रपट, 4-5 नवम्बर 2001 – सुखाड़ विरोधी अभियान
19. *पंचायती राज* – नेशनल सेंटर फॉर एडवोकेसी स्टडीज, 2002
20. *पंचायतनामा* – सितम्बर 2012 से अगस्त 2014 के अंक

• • •

यह किताब मानती है कि गाँव के बुनियादी घटकों को रेखांकित किये बिना, उन घटकों की सकारात्मकता और नकारात्मकता को विश्लेषित किये बिना गाँव की प्रासंगिकता, गाँव का भविष्य मापने के मनमाने चलन को चुनौती मिलनी चाहिए।

यह किताब कहती है कि गाँव और ग्राम सभा की शक्ति का विस्तार सिर्फ कानूनी अधिकारों पर निर्भर नहीं होता। सामाजिक-सांस्कृतिक और शासनेतर (शासनमुक्त) अभिव्यक्तियों की भी जन-राजनीतिक निष्पत्तियाँ हो सकती हैं।

यह कृति सचेत करना चाहती है कि समुदाय-केन्द्रित आकांक्षाओं, क्षेत्रीय आकांक्षाओं और तात्कालिक अनुकूलताओं का स्वशासन के बुनियादी और दीर्घकालिक कारकों के साथ अपमिश्रण नहीं होने देना चाहिए। कुछ विधानों के दुष्प्रभाव से संरक्षण को स्वशासन नहीं माना जा सकता। शासन ने जो भूमिका छीन ली है, शासन ने जो भूमिका आज तक नहीं दी—उन भूमिकाओं को थोड़ा दे दे और उसे वापस लेने का अधिकार अपने पास ही रखे रहे—इसे भी स्वशासन नहीं माना जा सकता।

इस रचना का निष्कर्ष है कि नगर-केन्द्रित, उद्योग-केन्द्रित (विशेषकर पूँजी-प्रधान), बड़ा उद्योग-केन्द्रित, प्रतिनिधि-केन्द्रित, प्रतिनिधि-केन्द्रित से भी ज्यादा नौकरशाही-केन्द्रित यह पूरा तंत्र गाँव को कमजोर किये हुए है। गाँव की सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता पर गाँव की राजनीतिक-प्रशासनिक मान्यता आरोपित है। गाँव के अस्तित्व का मसला भी प्रशासनिक एकाधिकार में सिमटा है। अधिकांश बौद्धिकों के चिन्तन की गाँव-विरागी मानसकिता के कारण ग्रामपक्षीय बौद्धिक अभियान कमजोर और दिग्भ्रमित रहता है। ऐसे प्रतिकूल और चुनौतीपूर्ण समय में तमाम गाँवों की आन्तरिक और व्यापक समताबोधी एकजुटता से ही गाँव की शक्ति जगेगी, बढ़ेगी, विराट बनेगी।

संविधान में गाँव की जगह के मसले पर भी इस किताब ने सूक्ष्मता से छानबीन करने की कोशिश की है।

इसी तरह की और भी कई कोशिशें है, और भी कई बाते हैं....

अनुज्ञा बुक्स
दिल्ली-110032

₹ 125
9 789383 962365